* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *
कल्याण
वर्ष ७३
संख्या ७

मंगल-मूरति मारुत-नंदन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
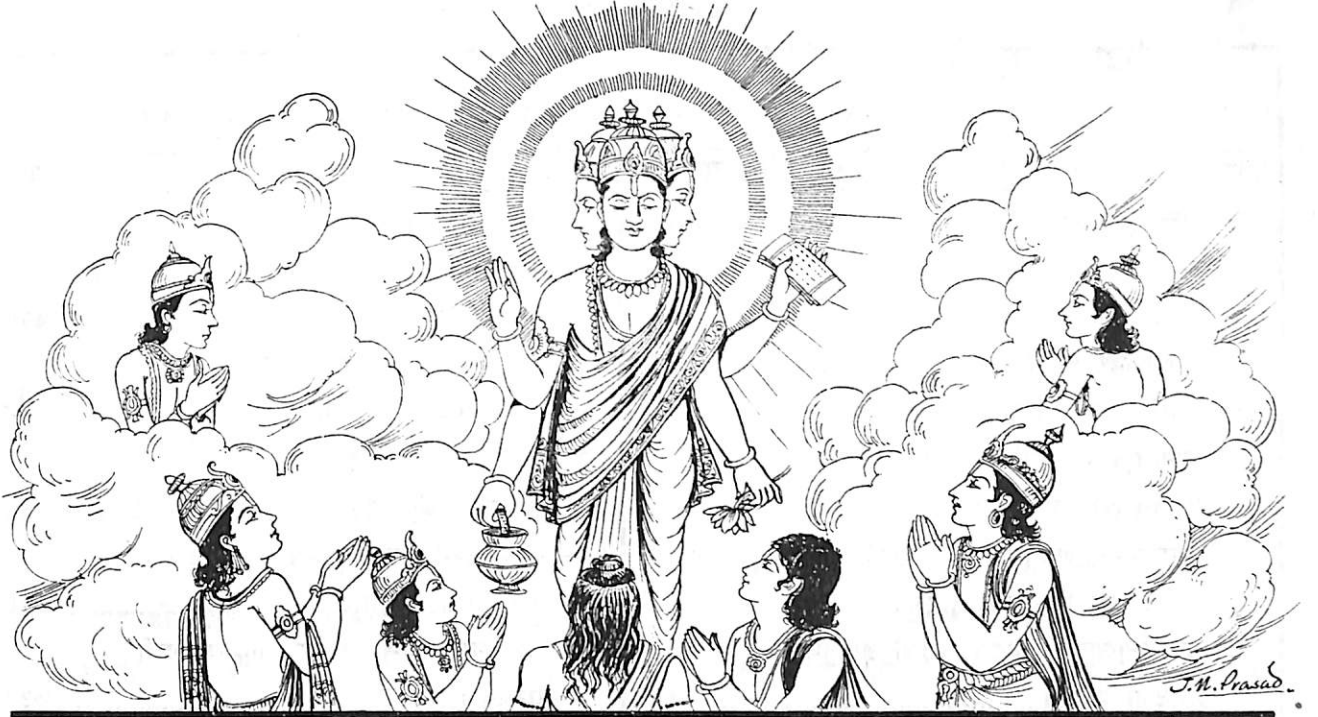
कल्याण

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

गोरखपुर, सौर श्रावण, वि० सं० २०५६, श्रीकृष्ण-सं० ५२२५, जुलाई १९९९ ई०

पूर्ण संख्या ८७२

मङ्गलमूर्ति श्रीहनुमान्

मंगल-मूरति मारुत-नंदन। सकल-अमंगल-मूल-निकंदन॥
पवनतनय संतन हितकारी। हृदय बिराजत अवध-बिहारी॥
मातु-पिता-गुरु, गनपति, सारद। सिवा समेत संभु, सुक-नारद॥
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु रामपद-नेह-निबाहू॥
बंदौं राम-लखन-बैदेही। जे तुलसीके परम सनेही॥

(विनय-पत्रिका)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,३०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, वि० सं० २०५६, श्रीकृष्ण-सं० ५२२५, जुलाई १९९९ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ९० रु०
(सजिल्द १०० रु०)
विदेशमें—
US $ 11 (Sea Mail)
US $ 22 (Air Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ६५० रु०
(सजिल्द ७५० रु०)
विदेशमें—
US $ 90 (Sea Mail)
US $ 180 (Air Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

कल्याण

याद रखो—व्यक्तियोंके समूहका नाम समाज है, समाजके समूहका नाम राष्ट्र और राष्ट्रोंके समूहका नाम विश्व है। यदि प्रत्येक व्यक्ति विशुद्ध-चरित्र, सात्त्विक-गुणप्रधान, प्रेमपूर्ण-हृदय, परार्थ-त्यागी और संयमी हो जाय तो सारा विश्व स्वयमेव ही ऐसा बन जाय। पर मनुष्य दूसरेको देखता और उसका सुधार करना चाहता है। वह न तो अपनी ओर देखता है और न अपने दोषोंको दूर करके गुणोंको ग्रहण ही करना चाहता है। फलस्वरूप समाज या विश्वमें दोष बढ़ते रहते हैं।

याद रखो—जबतक व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, तबतक समाज बिगड़ा ही रहेगा। न तो कोई व्यवस्था उसे सुधार सकेगी, न कोई कानून ही। चोरी, जारी, हिंसा अपराध है—बुरी चीजें हैं। मनुष्य कहता है, किसी समाजमें यह न हो। वह भाषण देता है, लिखता है, नियम बनाता—कानून बनाता है, पर स्वयं न इन्हें बुरा समझता है, न इनसे घृणा करता है और न इनका त्याग ही करना चाहता है। तब इनका समाजमें अभाव कैसे होगा, कैसे समाज सुधरेगा ?

याद रखो—जबतक मनुष्य बुरेको हृदयसे ठीक बुरा नहीं समझेगा, बुरेसे घृणा नहीं करेगा, तबतक वह कहे कुछ भी, और चाहे वह सबके सामने अपराध न भी करे, पर उसके मनसे तो अपराध होते ही रहेंगे और चुपके-चुपके वह बाहर भी करता रहेगा। कानून बनाने तथा मानने-मनवानेवाले भी सब व्यक्ति ही हैं, अतः कानून पुस्तकोंमें छपा रहेगा और अपराध बनते रहेंगे।

याद रखो—जब व्यक्ति अपराधको मनसे अपराध मानेगा, पापको मनसे पाप समझेगा, तब वह मनमें भी जरा-सा पाप-संकल्प उदय होनेपर दुःखी होगा। अकेलेमें भी जरा-सा पाप करते डरेगा। फिर समाजसे अपने-आप ही अपराध पाप निर्मूल हो जायँगे। समाज सुधर जायगा —समाजोंके सुधारसे विश्व तक सुधर जायगा।

याद रखो—मनुष्यके पास प्रधान तीन चीजें हैं—बुद्धि, मन और शरीर। इनमें प्रधान बुद्धि है। बुद्धि ही मार्गका निर्णय करनेवाली तथा शरीर-रथकी संचालिका सारथि है। बुद्धि जब अधर्मको धर्म, पापको पुण्य बताने लगती है, तब वह मारी जाती है और बुद्धिका नाश होते ही मनुष्यका सब प्रकारसे पतन हो जाता है। बुद्धि शुद्ध रहेगी, तब मनमें शुद्ध संकल्पोंका उदय होगा तथा शरीरके द्वारा शुभ क्रियाएँ होंगी। तब व्यक्ति अपने-आप ही ठीक हो जायगा। व्यक्तिका सुधार ही विश्वका सुधार है।

याद रखो—आज जो दुनियामें कलहकी आग धधक रही है, छोटी-सी झोपड़ीसे लेकर बड़े-बड़े राष्ट्रोंमें विभिन्न निमित्तोंसे जो अवाञ्छनीय घटनाएँ घट रही हैं तथा स्थान-स्थानसे पद-पदपर त्याग, प्रेम, संयम एवं सद्भावके अभावसे जो बुराइयाँ पैदा हो रही हैं, उनमें व्यक्तिका बुद्धिनाश ही प्रधान कारण है। व्यक्तिका अधर्मविचार तथा अधर्माचरण ही प्रधान कारण है। यह किसी भी कानूनसे नहीं दूर हो सकता। इसके लिये व्यक्तिकी बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिको अपने सुधारमें लगना चाहिये।

याद रखो—तुम्हारा सुधार तुम्हारे अपने चाहने तथा करनेसे ही होगा। इसलिये अपना सुधार चाहो, अपने दोषोंको निर्मूल करनेका प्रयत्न करो, अपनेको संस्कृत करो, अपनेको शुभ-चरित्र, सच्चरित्र, सात्त्विक-चरित्र, उच्च-चरित्रवाला सुसंस्कृत पुरुष बनाओ और अपना शुभ निर्माण करो—इसके लिये लग जाओ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक पूरे मनसे, पूरी शक्ति लगाकर। दूसरेकी ओर न देखो। भगवान् तुम्हारे सहायक होंगे। उनका बल तुम्हारे साथ होगा। उनसे प्रार्थना करो—उनकी कृपाशक्तिपर विश्वास करो। सारे विघ्नोंका विनाश करके तुम्हें आगे बढ़ाकर ले जायगी शीघ्र ही उनकी कृपा। फिर समाजका, राष्ट्रका, विश्वका सुधार स्वयमेव ही हो जायगा।—'शिव'

आसक्तिसे हानि

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सांख्ययोगमें द्रष्टा साक्षी बनकर, कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर रहे। भक्तियोगमें सूक्ष्मरूपसे वह कर्म करनेमें निमित्त बनता है।

भगवान् करवा रहे हैं और आप कठपुतलीकी तरह हैं। कर्मफल भगवान्पर छोड़ता है, सूक्ष्म अभिमान है। परंतु यह शुद्ध अभिमान है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

कर्मोंमें आसक्ति विष है। फलकी इच्छा दाँत है। साँपके विषके दाँत निकाल दो, फिर उस साँपको चाहे गलेमें डाल लो, कोई हानि नहीं। अहंकार साँप है।

मैं भगवान्के लिये कर्म करता हूँ, इसमें अभिमान है। निःस्वार्थभावसे कर्तव्य समझकर भगवान्के लिये कर्म करता हूँ। इसमें पहलेकी अपेक्षा ज्यादा अभिमान है, पर शुद्ध अभिमान है।

कर्मयोगमें—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

(गीता १८। ९)

'हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है।'

कर्म करना कर्तव्य है। शास्त्रकी मर्यादा है। भगवान्के वचन हैं, इसलिये कर्म करते हैं। शास्त्रकी आज्ञा है कि कर्तव्य समझकर फलासक्तिका त्याग करके कर्म करे। यहाँ सात्त्विक अहंकार है, पर दोषी नहीं। फलका त्याग है। शास्त्रविहित कर्म है, मनमाने कर्म नहीं, कर्तव्य-कर्म करे और कर्तव्य-बुद्धिसे करे। भगवत्प्रीत्यर्थ या भगवान्के निमित्तसे निष्कामभावसे कर्म करे—इसमें सात्त्विक अभिमान है तो दोष नहीं। गीताशास्त्र भगवान्का वचन है। ज्ञानी प्रकृतिके अर्पण करके कर्म करता है और भक्त भगवत्-समर्पण करके कर्म करता है। यह उत्तम है। भगवदर्थ, भगवत्प्रीत्यर्थ और भगवत्प्राप्त्यर्थ तीनों एक बात है। भगवदर्पणके दो भेद हैं—शुरूसे ही भगवान्के अर्पण और कर्म करनेके बाद अर्पण। शुरूमें अर्पण हो तो वह उत्तम है। भगवदर्थ कर्म तो शुरूसे होता है। 'समर्पण' बीचमें हो जाता है और अन्तमें भी हो सकता है। अतएव अपने-आपको और क्रियाको शुरूसे भगवान्के अर्पण कर दे, यह सबसे उत्तम है।

अपनेमें जो शक्ति है, उस शक्तिभर चेष्टा करें तो परमात्माकी प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं; किंतु हम शक्तिभर प्रयत्न नहीं करते हैं। जुर्माना, भय या रोगके निवारणके लिये जितना प्रयत्न करते हैं, उससे ज्यादा प्रयत्न परमात्माकी प्राप्तिके लिये करे। आलस्य बहुत ज्यादा है। कोई कहता है कि हम तो बहुत ज्यादा करते हैं, किंतु ऐसा कहनेवाले कुछ नहीं करते।

कर्मयोग भूमि है। पहले तो लोग गड्ढेमें पड़े हैं, गड्ढेसे बाहर निकलें, तब तो भूमिपर आवें। गड्ढा क्या है?

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

क्रोध उतना बलवान् नहीं, जितने काम और लोभ बलवान् हैं। मैं काम और लोभको ज्यादा बलवान् समझता हूँ, चित्तमें खटकता रहता है। क्रोध तो समझानेसे उतर जाता है।

रुपया न्याययुक्त मिले तो भी त्याग करे। अन्यायसे प्राप्त हो, उसको तो स्वीकार करे ही नहीं। लोभसे भी काम ज्यादा प्रबल है। जवान लड़के या स्त्रीका स्पर्श करना खतरनाक है। अच्छे पुरुषके लिये भी यह खतरनाक है। सुन्दर युवा लड़का भी अपने लिये घातक है। शूली चाहे अपनी हो या परायी; अँतड़ी निकाल ही देगी। अपने लड़केका लाड़-प्यार करो। जिससे काम, भोग-बुद्धि पैदा हो, ऐसा लाड़-प्यार नहीं करे। अपने लड़कोंको हृदयसे लगाना या मस्तक सूँघना यह बात तो शास्त्रोंमें आती है,

किंतु चुम्बन लेना कहीं नहीं आता। हर-एक भाईको यह खयाल रखना चाहिये कि स्त्रियों और लड़कोंके संसर्गमें नहीं रहे। नरकमें जानेका यह सीधा रास्ता है, कहीं अटकनेका काम नहीं। मेरे ऊपर उपकार करनेके लिये या मुझे निन्दासे बचानेके लिये ही यह आदत छोड़ दो। तुम्हारा उपकार तो होगा ही। निष्कामभाव बड़े ऊँचे दर्जेकी चीज है। खूब तात्त्विक विषय है। यह समझते हुए भी कहनेमें संकोच होता है।

मेरे तो पद-पदपर दोष आते हैं। मनुष्य अपना रुपया लगाकर मान-बड़ाई करे तो व्यवहारसे सुकृती हुआ, किंतु तुम रुपये लगाओ और मान-बड़ाई मेरी हो तो मैं उसका विरोध करता हूँ। आप लोग मेरे शरीर-विषयक काम करते हैं। जो काम रुपयोंसे हो सकता है, तुमसे मुफ्तमें करा लिया। यह प्रत्यक्षमें सकाम है। ऐसे पद-पदपर स्वार्थ है। मैं पूछता हूँ कि तुम्हारी घड़ीमें क्या बज रहा है? काम देनेवाला मिल जाय तो काम लेनेमें कमी नहीं रखता। दूसरे आदमी तो क्रिया ही देखते हैं, भीतरका भाव तो भाववाला या भगवान् ही देखते हैं। यदि मेरा यह भाव हो कि मैं तुम्हारे हितके लिये तुमसे काम लेता हूँ, यह तो ज्यादा अहंकारकी बात हुई। हम सबको स्वार्थ-त्याग करके व्यवहार करना चाहिये। भीतर-बाहरका व्यवहार शुद्ध होना चाहिये। स्वार्थ-त्यागपूर्वक बाहर-भीतरकी एक-सी क्रिया होनी चाहिये। कोई भी काममें किंचित् भी मदद लेना अपने स्वार्थकी सिद्धि है।

संन्यासीके लिये अन्न-वस्त्रके सिवाय और कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये और कोई आवश्यकता है तो वह संन्यासी नहीं है। सारी आवश्यकताओंको मिटाकर सब प्राणियोंको सहायता दे, अभयदान दे। जिस आश्रममें रहे उसको लजावे नहीं। अभय देना अर्थात् किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारसे तकलीफ नहीं देना —अहिंसाधर्मका पालन करना। जान-बूझकर किसीको कष्ट न दे। किसी प्रकारसे उद्वेग न करे। इस प्रकारका भाव हृदयमें रखकर मनुष्यको संन्यास लेना चाहिये। किसी प्रकारकी आवश्यकता नहीं रखे। 'तुम्हें क्या चाहिये?' यह पूछना भी कलंक है, ऐसा समझे। शास्त्रोंमें जो बातें लिखी हैं, उनको देखते हुए सबमें कमी है। हम गृहस्थ हैं, साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ किसीके भी याचना करनेपर न देना गृहस्थाश्रममें पतन है। कोई भी याचक हमसे असंतुष्ट होकर जाय तो वह हमारे पुण्य लेकर जाता है। अपने पाप यहाँ छोड़ जाता है। ऐसी बात देखें तो हमारेमें कमी है। याचकोंको भोजन कराकर भोजन करे। सब भूत-प्राणियोंको भोजन देकर, पितरोंको जल, देवताओंको आहुति देकर फिर भोजन करे। अपने कार्योंमें त्रुटियाँ देखता रहे तो त्रुटियाँ निकलेंगी और त्रुटियाँ नहीं देखनेपर त्रुटियाँ रह जायँगी। कोई आदमी अपनी त्रुटि बताता नहीं। दूसरा बताये तो सफाई देनेको तैयार है। किसीको तो त्रुटि बतानेसे दु:ख होता है। भय, कायदा रखकर हमें कहता नहीं। संसारमें अपने दोषोंको सुनकर प्रसन्न हो तो समझना चाहिये कि दोष टिकेंगे नहीं। कोई सफाई दे तो समझना चाहिये कि सदाके लिये रजिस्ट्री कर दी, दोष निकलेंगे नहीं। नासूर हो जाय, मवाद पूरा निकलता नहीं तो वह खतरनाक है। हर-एक भाईको अपने दोष हँस-हँसकर निकालने चाहिये। आजकलके लड़के माता-पिताके प्रतिकूल हैं। इसमें माता-पिताका दोष है। शुरूसे अच्छा बनाते तो आज यह दशा नहीं होती। हम छोटी अवस्थामें जब बालकोंसे लड़ते तो मनमें यह डर रहता कि यह हमारे पिताजीसे न कहे। ऐसा न करनेके लिये हम उसकी खुशामद करते। यदि वह जाकर शिकायत कर देता तो जब पिताजी घरमें रहते तब हम घरमें नहीं जाते। माता कहती— पिताजी रोटी देनेके लिये मना कर गये हैं। दस मिनट बाद पिताजी आते और पूछते कि आगे ऐसा नहीं करोगे न? तो सिर हिलाकर स्वीकार कर लेता। यह मेरे साथ बीती हुई बात है।

जिस लड़केको माता-पिता छोटी अवस्थामें शिक्षा देते हैं, वह लड़का खराब रास्तेपर नहीं जाता। वे माता-पिता शत्रु हैं; जो लड़केका लाड़ करते हैं, वे गलेमें छूरी मारते हैं। लड़केकी शिकायत सुनकर कुछ नहीं कहते; वह लड़का तो सड़ेगा ही। उसी प्रकार हमारी बुरी आदत —झूठ, कपट, चोरीकी आदत, हमारे दुर्गुण, आचरण आदि बाहरमें प्रकाशित नहीं होने देना नरकमें जानेका सीधा रास्ता है।

यदि आपको अपना कल्याण करना है तो हृदयसे इन शत्रुओंको दूर करें। जड़से निकाल दें। जबतक ये शत्रु भीतर विराजमान हैं, तबतक नरकसे छुटकारा नहीं। इनके ऊपर दया करे ही नहीं। दुर्गुण, दुराचार दयाके पात्र नहीं हैं। काम, क्रोध और लोभ जड़ पदार्थ हैं। वे तो निर्जीव पदार्थ हैं, सजीव पदार्थ नहीं। उनको आदर देना अपना आलस्य, कमजोरी तथा त्रुटि है। इनको निकाल देना चाहिये। निष्कामभाव

और क्रिया दोनों होने चाहिये। ममता, अभिमानका त्याग, फलासक्तिका त्याग करे। स्वार्थका भाव क्रियामें नहीं आना चाहिये। वही महापुरुष है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

श्रेष्ठ पुरुषको ही आदर्श बनाना चाहिये। त्रेतायुगमें भगवान् श्रीराम आदर्श थे। राजा जनक, अश्वपति और मान्धाता—ये आदर्श पुरुष थे। युधिष्ठिर आदर्श पुरुष थे। विदुरजी दासी-पुत्र होकर भी आदर्श पुरुष थे। राजाओंमें महाराज युधिष्ठिर और नीची श्रेणियोंमें धर्मव्याध आदर्श थे। वैश्योंमें समाधि वैश्य, तुलाधार आदर्श थे, श्रवण आदर्श थे, उनकी माता-पिताकी भक्ति तथा राजा दशरथके साथ बर्ताव बहुत ही उत्तम था। त्रेतायुगमें मूक चाण्डाल आदर्श था। ब्राह्मणोंमें और ऋषियोंमें तो असंख्य आदर्श पुरुष थे, जिनकी संख्या नहीं। उद्दालक, धौम्यमुनि, आरुणि, याज्ञवल्क्य, जबालाका पुत्र सत्यकाम, वेदव्यास, वसिष्ठ, वामदेव, आदर्श पुरुष जडभरत आदि उच्चकोटिके थे। सभी जातियोंमें आदर्श पुरुष हुए हैं। उनके अनुसार हमको आदर्श रखकर आचरण करना चाहिये, प्रत्येक युग और कल्पमें हजारों महापुरुष हुए और आगे भी होते रहेंगे। जिनका जन्म अपने कल्याणके लिये तथा संसारके हितके लिये है, उनका ही जन्म सफल है। जो दूसरोंका कल्याण करता है, उसका कल्याण तो उसके अन्तर्गत ही है।

जबतक काम, क्रोध, लोभ ये दोष हैं, तबतक मनुष्य भूमिपर नहीं, गड्ढेमें है। बड़े-बड़े दोषोंका वैराग्यरूपी अस्त्रसे छेदन कर देना चाहिये। अपने पास जो चीज है, उसकी वृद्धिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, जैसे दो पुत्र हैं तो यह इच्छा नहीं करे कि और हों। रुपये हों तो और तृष्णा नहीं बढ़ावे। जो कुछ हमारे पास है उससे ज्यादा नहीं चाहिये। यह इच्छा कल्याण करनेवाली है। भोग-सामग्री बढ़ानेकी इच्छा पतन करनेवाली है। यह इच्छा मौत, रोग, विषकी इच्छाके तुल्य है। मान, बड़ाई, धन, संतान बढ़नेकी इच्छा खतरेकी चीज है। भगवान्‌की विशेष दया है कि लड़का पैदा ही नहीं हुआ। मान-बड़ाई हुई ही नहीं तो यह भगवान्‌की और विशेष दया है। इसलिये यह तृष्णा मिटानी चाहिये, इस पिशाचिनी, डाकिनीको निकालकर दूरसे ही प्रणाम करे। भगवान् कहते हैं—

'सन्तुष्टो येन केनचित्'—साम, दाम, दण्ड, भेद—जिस किसी प्रकारसे निश्चय करके इनको निकाल दे। इसके बाद हम जो कुछ उत्तम काम—यज्ञ, दान या तप करते हैं, उन्हें कामना लेकर करना ही नहीं चाहिये। देव-कर्म, तीर्थ, व्रत, धर्म आदि उत्तम कर्मोंको किसी कामनाके उद्देश्यसे नहीं करना चाहिये। आरम्भ करनेके बाद कामना आ जाय तो एकदम काट डालो। प्रश्न उठता है कि फिर काम क्यों करें? कर्तव्य-बुद्धिसे करें। सबसे उच्चकोटिकी बात यही है कि भगवान्‌को खुश करनेके लिये करें, अपनी आत्माके कल्याणके लिये करें। इससे आपमें जो दोष, अपराध, विकार, क्लेश, चिन्ता, भय और अशान्ति हैं, इन सबकी समाप्ति हो जायगी और सदाके लिये परम आनन्द, परम शान्तिकी प्राप्ति हो जायगी। ऐसा उद्देश्य रखकर कर्म करें। यह कामना होते हुए भी शुद्ध कामना है। इससे ऊपर वह है, जो कर्तव्य-बुद्धिसे करे, इससे ऊपर परमात्माकी प्रसन्नताके लिये करनेवाला है। यज्ञ, दान, तपका फल नरक नहीं है। उसका फल है इस लोकमें ऐश्वर्य, मान, बड़ाई तथा मरणोपरान्त स्वर्गकी प्राप्ति। किंतु इस फलमें और तिर्यक्-योनियोंकी प्राप्तिमें कोई विशेष फ़र्क़ नहीं। सोनेकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ीके कष्ट देनेमें फ़र्क़ नहीं, बन्धन तो दोनोंमें है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(गीता ९। २०-२१)

'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको

करनेवाले तथा सोमरसको पीनेवाले पापोंसे पवित्र हुए पुरुष मुझे यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं। अपने पुण्योंके फलस्वरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर देवताओंके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम-कर्मके शरण हुए भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।'

वे लोग घूमते रहते हैं, हैं तो चक्करमें ही। स्वर्गकी बेड़ी भी घटयन्त्रकी तरह बन्धन है। भगवान् कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

'कर्मोंको मेरे अर्पण करनेमात्रसे तू शुभ-अशुभरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मेरेको प्राप्त हो जायगा।' दूसरी बात है, भोगोंमें आसक्ति हो जाती है तो वह अपनी आत्माके लिये बन्धनकारक बन जाती है। सत्त्वगुण भी बन्धनकारक है।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।

नरकमें ले जानेवाली बेड़ीसे यह श्रेष्ठ है, पर इसे भी वैराग्यरूपी शस्त्रसे काट देना चाहिये। सत्संग शाण (छूरीकी धार तेज करनेवाला पत्थर) है। भोगरूपी फाँसीको हर वक्त काटनेके लिये तैयार रहे। जड़-चेतन हर-एक पदार्थसे हम स्वार्थ सिद्ध करते हैं। जड़से स्वार्थ सिद्ध किया तो हम ऋणी नहीं बनते, पर चेतनसे स्वार्थ सिद्ध किया तो हम ऋणी बन जाते हैं।

तीर्थोंमें दूसरेके अन्नसे निर्वाह करे तो तीर्थका फल वह ले लेता है। अतएव हर समय स्वावलम्बी बनकर निर्वाह करे। इनके लिये छूट है—

नौकरसे काम लेते हैं, बदलेमें वेतन देते हैं। लड़का, स्त्रीसे भी काम लिया तो दोष नहीं है, पर स्वावलम्बी नहीं कहे जा सकते। श्रीराम वनमें जाने लगे तो सीता और लक्ष्मण साथ जानेको तैयार हुए। भगवान् साथमें लेनेको मना कर रहे हैं। अन्तमें आग्रह होनेपर साथ ले गये। अपना काम स्वतः करना चाहिये और दूसरेको आदर देनेके लिये या संतोषके लिये दूसरेकी सेवा ले लें। पराधीनता बन्धन है, वह वैराग्यरूपी अस्त्रसे ही कटेगी। भगवान् कहते हैं—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।

काटनेकी चार रस्सी बतायी—

१-परतन्त्रताकी रस्सी है—न्यायको लेकर परतन्त्रता है।
२-दूसरेसे स्वार्थ सिद्ध करना है —ऋणी होना है।
३-स्वर्गमें आना-जाना —यह कामनाकी रस्सी है।
४-तृष्णाकी चौथी रस्सी है।

पाँचवीं बात निष्काम-कर्मकी बतलायी जाती है—भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

भगवान्की आज्ञा मानकर शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये। फलकी तरफ मत देखो। यह दूसरोंका बगीचा है। इसमें घूमनेमात्रका अधिकार है—फूल-पत्ते तोड़नेका अधिकार नहीं है। पानी सींच सकते हैं, फल-फूल नहीं तोड़ सकते, तोड़ें तो चोर हैं। हक समझें तो अन्याय है। जो कुछ क्रिया कर रहे हो, सबमें परमात्माकी तरफसे सहयोग मिल रहा है। फलमें अधिकार है तो परमात्माका ही, तुम्हारा क्या हक है? फलका त्याग करनेकी अपेक्षा फलका न चाहना उत्तम है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

'जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्निको त्यागनेवाला संन्यासी नहीं है।' शुभ कर्म, यज्ञ, दान, तपसे फलकी इच्छा न करे; देनेपर भी स्वीकार नहीं करे। यदि वे दें और हम लें तो क्या आपत्ति है? फलका उद्देश्य तो नहीं है। पर देनेपर ले लेना ऊँची बात नहीं है। एक वैद्य निष्कामभावसे इलाज कर रहा है। उसे पैसे देने लगे तो वैद्यने कहा—हमने तो प्रेमके नाते काम किया है। देनेवालेने कहा—हम भी तो प्रेमके नाते ही देते हैं, वैद्यने स्वीकार कर लिया। देनेवालेने अपना कर्तव्य समझा, यह उसकी साधुता है। किंतु लेनेवालेकी साधुता थोड़े ही है। देनेवालेकी प्रशंसा होगी, लेनेवालेकी नहीं। अतएव ऐसा देनेवाला मिल जाय तो देनेपर भी स्वीकार नहीं करे। यह स्वीकार करना फल स्वीकार करना है। वहाँ तो यह बात होनी चाहिये कि हमारा अधिकार ही नहीं तो लें क्या? उसी प्रकार हमको भगवान्के घरसे सब चीजें मिल रही हैं, हमें लेनेका अधिकार नहीं, मालिकका हुक्म है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' भगवान् दें तो भी नहीं लें। तुम्हें देना हो तो मालिकको दो। तुमसे हम ले लेंगे तो हम अनधिकार चेष्टा

करते हैं। यह भी गलेकी पाँचवीं फाँसी है। यहाँ भी वैराग्य शस्त्र है। फलका त्याग हो गया, पर हेतु रहा, उसके लिये भगवान् कहते हैं—

'मा कर्मफलहेतुर्भूः०'॥

हेतु भी रस्सी है, यह भी बाँधनेवाली है। कर्मके फलका हेतु आसक्ति है। ममता अर्थात् मैंने किया, मेरे द्वारा यह यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया हुई। इसमें अहंकार है। आसक्ति और ममता—यह गलेकी फाँसी है। यदि आसक्ति होगी तो तुम्हें संसारमें आना होगा। आसक्तिका मूल राग है और यह वैराग्यसे कटता है।

प्रश्न उठता है कि कर्म करें ही क्यों? कर्ममात्रको ही त्याग दें। तब भगवान् आगे कहते हैं—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'॥

कर्ममें प्रीति है—यह दोष है। उससे ज्यादा दोष कर्म न करनेमें है। वहाँ आलस्य तमोगुण है। न करनेकी अपेक्षा कर्म करके फल चाहना अच्छा है। आलस्य, प्रमाद, कर्मकी अवहेलना करना तामसी है। उससे राजस अच्छा है। राजससे सात्त्विक अच्छा है। उसका फल परमात्माकी प्राप्ति है।

सातवाँ तन्तु एक और है—सूक्ष्म वासना और सूक्ष्म अभिमान। उनको भी आगे जाकर समाप्त करना है। सूक्ष्म वासना—और कोई इच्छा नहीं, पर मैं बना रहूँ, अपने जीवनकी इच्छा, केवल मरूँ नहीं, शरीर कायम रहे, यह भी सूक्ष्म वासना है। न तो मरनेकी और न जीनेकी; कोई इच्छा ही न करे। कर्म करके यह भाव आया कि यह मैंने किया, यह कलंक है। भगवान्‌की सेवा की, मनमें आया कि मैंने किया तो भी कलंक है, हेय है। जबतक कर्तृत्वाभिमान है, तबतक खराबी है, शुद्ध अभिमान है। यह बात सुनकर उसे लज्जा, दुःख, शोक होगा, सुनना नहीं चाहेगा। अहंकार नहीं हो तो लज्जा और दुःख नहीं हो सकते।

वेदोंमें राष्ट्रिय एकताका संदेश

(वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)

'संघे शक्तिः कलौ युगे'—यह वचन सुप्रसिद्ध है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी संघशक्ति दृढ़ रखनेका प्रयत्न करता रहता है। इस लोकतन्त्रके मूलभूत आदर्शका दर्शन हमें वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेदसे लेकर अथर्ववेदके संहिताग्रन्थों तकमें राष्ट्रके उत्कर्षके कतिपय नीतिसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (१२। १)-का यह पूरा 'पृथ्वी-सूक्त' ही हमारा राष्ट्रगीत है, जिसमें विविध प्रकारके वर्ग, जाति, धर्म, जनपदसे सम्बद्ध मानवोंको एक सूत्रमें संग्रथित रहनेका उपाय बताया गया है। जिसका **'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः'** यह सुभाषित नीतिवाक्य तो विशेष प्रसिद्ध है।

ऋग्वेदका यह अन्तिम सूक्त है। उसका ऋषि संवनन है। इस सूक्तमें अर्थसंगतिके रूपमें दो विभाग बनते हैं। प्रथम मन्त्रके द्वारा ऋषि स्तुति करता है —'हे अग्नि, आप सभी मानवोंको चारों ओरसे सम्मिलित करते हैं। आप स्वयं वैश्वानरके रूपमें सभी प्राणियोंको व्याप्त किये हुए हैं। आप पृथ्वीके वेदिस्वरूप स्थानमें ऋत्विजोंके साथ चमकते रहते हैं। आप हमें धन-रत्नादि सुलभ करायें।

ऋग्वेद (१०। १९१)-के सूक्त—**'विश्वानि वसूनि'** इस मन्त्रके द्वारा आठ रत्नोंकी प्राप्तिकी सूचना मिलती है। ये आठ रत्न —बन्धु, मेधा, यश, ब्रह्म, वेदचतुष्टयी (मन्त्र), रत्न, भग-ऐश्वर्य और वृत हैं। आठ रत्नोंकी प्राप्ति हो गयी, परंतु राष्ट्रका संगठन न हुआ तो क्या लाभ? इस सूक्तके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मन्त्रमें राष्ट्रके संविधानका निर्देश है। उपक्रमके रूपमें **'सं गच्छध्वम्'** वाक्य संघका सूचक है तथा उपसंहारके रूपमें **'यथा वः सुसहासति'** के द्वारा संघके ऐकमत्यका प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय मन्त्रमें संगठनके तीन साधन बताये हैं। यह भगवती वेदमाता अपने मानव पुत्रोंको उपदेशके रूपमें सुनाती है, **'सं गच्छध्वम्'** हे मेरे पुत्र मानव, आप सब एक सूत्रमें बँध जायँ, संगठित हो जायँ। विश्वहितके लिये अपना सुदृढ़ संगठन शीघ्र ही साध लें। संगठनके ये तीन साधन हैं—

१—**'सं वदध्वम्।'** आप लोग साथ-साथ बोलें अर्थात् परस्परका विरोध त्यागकर एक ही भाषा बोलनेका यत्न करें।

२—**'सं वो मनांसि जानताम्।'** आप लोगोंकी संवादयुक्त

वाणी एक हो। इतना ही नहीं, आपके अन्तःकरण भी एक विषयको जानें अर्थात् एकविध (राष्ट्रके हितकारी) अर्थको आप सब जानें।

३—'**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥**' जैसे विश्वराज्यके अधिकारी सूर्य आदि देव अथवा ब्रह्माण्डके रूपमें पिण्डराज्यके अधिकारी चक्षु आदि इन्द्रियोंमें अधिष्ठित सूर्य आदि देव समस्त साधन-सम्पत्तिके प्राप्त्यर्थ अपने विभागोंका बिना प्रमादके संचालन करते हैं, ठीक वैसे ही आप सब मानव एकमत होकर, परस्परके विरोध या वैमनस्यको छोड़कर समाज, राज्य या प्रजातन्त्रका शासन सफलतासे करते रहें।

वास्तवमें यह विश्व एक महान् राज्य है, जिसमें भिन्न-भिन्न विभागोंके अधिकारी, मन्त्रीगण अपने-अपने विभागोंको कुशलतासे चलाते रहते हैं।

जैसे आजके प्रजातन्त्र शासनमें राष्ट्रपति, लोकसभाके अध्यक्ष, प्रधान मन्त्री, अन्य मन्त्रीगण अपने-अपने शिक्षा, रक्षा, स्वास्थ्य, खाद्य, उद्योग आदि सम्बन्धित विभागोंको चलाते हैं, विश्वराज्यमें भी वही व्यवस्था है। द्वितीय मन्त्रमें तो वेदमाताने संवनन ऋषिके द्वारा उपदेश दिया है। उसके तीसरे मन्त्रमें विश्वराज्यके राष्ट्रपतिने संविधान बनानेका प्रस्ताव रखा है, उसका रूप मिलता है। द्वितीय मन्त्रके तीन साधन (१) एक प्रकारका संवाद, (२) परस्परके मनका ऐकमत्यसे अवबोध तथा (३) अन्य विभागोंमें हस्तक्षेप न करते हुए अपने विभागोंके हितोंका संरक्षण। इन तीन साधनोंके साथ तीसरे मन्त्रमें निर्दिष्ट छः साधन जोड़नेसे राष्ट्रके संविधानके नौ साधन प्राप्त होते हैं। इस विश्वराज्यका राष्ट्रपति प्रस्ताव रखता हुआ कहता है—'**समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः**' मैं राष्ट्रपतिकी तरह विश्वपति समान मन्त्रणाद्वारा पारित (निर्णीत) आपके प्रस्तावको अनुमति देता हूँ अर्थात् सर्वसम्मत प्रस्तावपर राष्ट्रपतिद्वारा अपने हस्ताक्षरपूर्वक सादर स्वीकृति प्रदान संगठनका एक मुख्य साधन है। यह प्रस्ताव सर्वसम्मत होना चाहिये, उसका निर्देश करते हैं—

(१) '**समानो मन्त्रः**'—मन्त्रणा, राष्ट्रहितार्थ गुप्त मन्त्रणा एक ही प्रकारकी हो, उसमें ऐकमत्य बना रहे। मत-विभेद या विघटन न हो।

(२) '**समितिः समानी**'—कार्यकारिणी या विषय-विचारिणी सभा एकविध हो। अर्थात् सदस्योंके बीच वैमनस्य न हो।

(३) '**समानं मनः**'—सदस्योंके मन भी एक समान—सदृश हों। परस्परके मनमें विपरीत भाव न हों।

(४) '**सह चित्तमेषाम्**'—इन सदस्योंके चित्त भी एक निश्चयके साथ समान—सुदृढ़ हों। इस प्रकारके समितिके सदस्योंके वार्तालाप, समितिके मत, सदस्योंके मन और निश्चय चारों साधन समान होंगे, तभी राष्ट्रपतिके सामने सर्वसम्मत प्रस्तावको रखा जायगा।

(५) '**समानं मन्त्रम्**'—प्रस्तावको वह सभापति स्वीकृत करेंगे तथा—

(६) '**समानेन वो हविषा जुहोमि**'—'**हूयते दीयते इति हविः**' इस व्युत्पत्तिसे हविका अर्थ है पुरस्कार। समान-सदृश अर्थात् जिसने जैसा राष्ट्रका हित किया, उसके अनुरूप राष्ट्रिय पुरस्कारद्वारा सभी राष्ट्रसेवकोंको राष्ट्रपतिके रूपमें मैं प्रसन्न करता हूँ। महाभाष्यकारने '**जुहोमि**' का अर्थ प्रसादन अर्थात् प्रसन्न करना भी बताया है और वही अर्थ यहाँ विवक्षित है।

इस प्रकार सर्वसम्मत प्रस्तावको रखकर एवं राष्ट्रके सेवकोंको प्रसन्न कर चतुर्थ मन्त्रके द्वारा राष्ट्रपति सभी सदस्योंके सहकार और निष्कपट धैर्यपूर्ण व्यवहार रखनेको कहते हैं।

(१) '**समानी व आकूतिः**'—

आपके अभिप्राय, प्रतिक्रिया, संकल्प या निश्चय समान हों।

(२) '**समाना हृदयानि वः।**'

आप लोगोंके हृदय समानरूपसे सरल-निष्कपट हों।

(३) '**समानमस्तु वो मनः।**'

आप लोगोंका मन एक समान हो, अर्थात् आप जो कार्य करें, उसमें मनका अनुराग एक समान बना रहे।

इस मन्त्रमें आकूतिसे अभिप्राय या संकल्प, हृदयसे भाव तथा मनसे कार्यतत्परता—इन तीनोंमें समरूपता बताकर मन, वचन, कर्मकी एकवाक्यताका निर्देश किया। अर्थात् ये भी तीन साधन हैं।

प्रस्तुत तीनों मन्त्रोंके द्वारा उपक्रम और उपसंहारके रूपमें राष्ट्र-संविधानका आदर्श उपलब्ध होता है। द्वितीय मन्त्रके तीन, पहले मन्त्रके छः तथा चतुर्थ मन्त्रके तीन साधनोंको जोड़नेसे राष्ट्रकी सुरक्षामें बारह साधन अत्यन्त उपयुक्त और हितकारी हैं। [**प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल**]

साधक और विषयीका दृष्टिभेद

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

मोहकी बड़ी महिमा है। यह इतना गहरा छाया रहता है कि आदमी मोहकी बुराई करता हुआ भी मोहमें फँसा रहता है। वह मोहको बताता है, दूसरोंके मोहकी व्याख्या करता है, मोहका दोष बताता है और उससे होनेवाली अवनतिको बताता है। परंतु स्वयं मोहसे इतना लिपटा रहता है कि उसे छोड़ना नहीं चाहता है। जबतक मोह है, तबतक भगवत्-चरणारविन्दसे अनुराग नहीं हो सकता है। हर मनुष्य, हर जगह, हर क्षेत्रमें, हर समय मोहसे अभिभूत रहता है।

'मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग'॥

मोह गये बिना भगवच्चरणारविन्दसे दृढ़ अनुराग नहीं होता है। मोहका अर्थ है मूर्खता; सांसारिक कामना-वासनासे अभिभूत वृत्ति। जो वृत्ति कामना-वासनासे ऊपर उठकर भगवान्‌में नहीं लगती और कामना-वासनासे निरन्तर छायी रहती है, उस वृत्तिका नाम मोह है। मोह विक्षोभ, काम और लोभसे होता है।

'कामात्क्रोधोऽभिजायते' और **'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'** मनुष्यके मनमें जो प्रकट या अप्रकट कामनाएँ रहती हैं, वे कामनाएँ ही मनुष्यको सम्मोहित करती हैं और मोहित मनुष्य ही निरन्तर कामनाओंके वशमें रहता है। यह अन्योन्याश्रित है कि मोहसे कामना बढ़ती है और कामनाओंसे मोह बढ़ता है। जबतक मनुष्यकी बुद्धि मोहित है, तबतक वह यथार्थ दर्शन नहीं कर सकता है। राग-द्वेषसे रहित जब नेत्र होते हैं, तब उसको वस्तु यथार्थरूपसे दिखती है। राग-द्वेषयुक्त होनेपर उसी अनुरूप वस्तु दिखती है। रागमें दोष भी गुण दिखता है और द्वेषमें गुण भी दोष दिखता है। यह राग-द्वेषका स्वाभाविक परिणाम है। भगवान्‌ने कहा है कि राग-द्वेष हैं सभी जगह; सभी विषयोंमें सर्वदा बैठे हुए हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३। ३४)

राग-द्वेष हैं, प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक अर्थमें, प्रत्येक विषयमें निरन्तर डेरा डाले बैठे हैं, व्यवस्थापूर्वक बैठे हैं। इनके वशमें नहीं होना चाहिये। इनके वशमें होनेसे लुट जाओगे, क्योंकि ये परिपन्थी हैं। हम लोग राग-द्वेषके निरन्तर वशमें रहते हैं और ये हमें निरन्तर लूटते रहते हैं; क्योंकि हम कामनाके गुलाम हैं, भगवान्‌के नहीं।

'तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।'

जबतक मनुष्य भगवान्‌का नहीं बन जाता, तबतक राग-द्वेषका शिकार रहता है। राग-द्वेषरूपी चोर हमेशा उसके पीछे लगे रहते हैं।

यह जो मोह है, इसने हमें इस तरह मोहित कर रखा है, फँसा रखा है कि हम जानते-देखते हुए भी, संसारकी गति और उसका परिणाम जानते-देखते हुए भी भ्रमितबुद्धि हो जाते हैं, जिससे हम उस समय स्पष्ट नहीं देख सकते। अपने अंदरकी बुराईपर ध्यान नहीं देते और दूसरेकी उतनी ही बुराईकी आलोचना करते हैं।

आप पाप को नगर बसावत
सहि न सकत पर खेरो,

अपने तो पापका नगर बसाता है और दूसरेका खेरा (छोटा गाँव) भी जरा-सा वह सहन नहीं कर सकता।

मोह जब नष्ट होने लगता है, तब अपने दोष स्पष्ट दिखने लगते हैं। भूलका ही नाम मोह है और भूल स्वाश्रित होती है। यह सिद्धान्त है। भूल रहती है अपने आसरेसे ही और इसके मिटनेसे ही यथार्थ दिखता है। उस समय उसको अपने दोष दिखते हैं। अपनी स्थिति दिखती है, उलटे या सीधे जा रहे हैं, स्पष्ट दिखायी देता है। राग-द्वेषरूपी चश्मेके लगनेसे मनुष्य जैसा देखना चाहता है वैसा देखता है, परंतु राग-द्वेष-रहित निर्मल नेत्रोंसे देखनेपर तत्त्व यथार्थरूपमें दिखता है। हम मनमें पूर्वाग्रह लिये बैठे रहते हैं और उसी पूर्वाग्रहयुक्त नेत्रोंसे देखते हैं। यह पूर्वाग्रह मनसे निकलना चाहिये। हमारे मनमें जैसी धारणा बनी हुई है, उसीके अनुसार मन हमें वस्तुको दिखलाता है, यह मोहयुक्त दृष्टि है और धारणारहित निर्मल चित्तसे वस्तु जैसी होती है वैसी दीखती है। यह मोहरहित दृष्टि है। मोहयुक्त दृष्टि रहनेपर भगवान् दिखनेको कौन कहे

भगवान्‌की कल्पना भी ठीकसे नहीं होती है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८। ५४)

तत्त्वतः मनुष्य तब देखता है, जब उसे भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त होती है। भगवान्‌का जैसा स्वरूप है, वह भगवत्कृपासे ही भगवान् जब दिखाते हैं तब दिखता है। उसके पूर्व भगवान्‌की कल्पना, उनका अस्तित्व या उनकी स्थितिका विश्वास ही हो जाय तब भी बहुत कार्य हो जाता है। भगवान्‌के अस्तित्वको जो मानेगा वह छिपकर पाप नहीं करेगा, क्योंकि भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं। यह जानकर वह कब बेशर्मीसे पाप करेगा? हम छिपकर पाप करते हैं, मानसिक पापकर्म भी करते हैं, मनमें नाना प्रकारकी दुरभिसंधि, नाना प्रकारके बुरे-बुरे भाव, बुरे-बुरे विचार हम रचते रहते हैं, जिसे और कोई नहीं लेकिन भगवान् तो देखते हैं। जब हमारा भगवान्‌पर विश्वास होगा, तब पाप नहीं करेंगे। क्योंकि भगवान् हैं और भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वकालमें हैं, सर्वतश्चक्षु हैं, तो ऐसेमें बुरा कार्य करनेमें हमें लाज आयगी। भगवान्‌का अस्तित्व माननेपर निर्भयता आयगी और पाप होना बंद हो जायगा। हम अपनेको आस्तिक मानते हैं, लेकिन पूर्णतः ऐसा है नहीं, क्योंकि यदि आस्तिक होते तो छिपकर पाप नहीं करते। हम भूत-प्रेतकी कल्पना करके डर जाते हैं, लेकिन भगवान्‌का निश्चय करके निर्भय नहीं होते हैं। जबकि भगवान् सर्वत्र, सर्वदा हैं और भूत नहीं है। भगवान्‌का अस्तित्व माननेपर बहुतसे उपद्रव शान्त हो जाते हैं और पाप होना बंद हो जाता है।

मोह आँखोंपर एक घनी छाया ला देता है, जिसके कारण हम भगवान्‌को नहीं देखते हैं। यहाँतक कि यथार्थ लाभ-हानि भी नहीं देखते हैं। हम मोहयुक्त होकर राग-द्वेषके संचालनमें ही जीवन व्यतीत कर देते हैं। कभी रागकी वस्तु सामने आ गयी तो चित्त प्रसन्न हो जाता है और द्वेषकी वस्तु आ गयी तो चित्त खिन्न हो जाता है। इसी प्रकार कभी हर्ष, कभी उद्वेगका क्रम चलता रहता है। जगत्‌के जितने भी सुख हैं, वे दुःख-मिश्रित हैं। सुख-दुःखको लेकर यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति यह द्वन्द्व निरन्तर एक साथ जगत्‌में रहते हैं। इसलिये या तो द्वन्द्वातीत हो जाय या दोनोंमें भगवान्‌को देखे। परंतु यह दृष्टि मोहके कारण नहीं आ पाती है। मोहके कारण ही हम विमोहित होकर दूसरेके मोहको देखकर हँसते हैं और अपनेको नहीं देख पाते तथा अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पाते। यदि मोहसे निवृत्ति चाहें तो विश्वासपूर्वक कातर-हृदयसे भगवान्‌की प्रार्थना करें। निर्बलके बल राम हैं। जब किसी अन्य साधन विद्या, बुद्धि या बलसे जहाँ कार्य नहीं होता हो तो जैसे दीन-हीन व्यक्ति निरुपाय होकर भगवान्‌को पुकारता है, वैसे ही हम दीन बनकर कातर-स्वरसे भगवान्‌को पुकारें कि—'प्रभो! मुझसे मेरा मोह नाश नहीं होता, हम इससे निरन्तर बद्ध हैं। हम इससे ज्यों-ज्यों निकलना चाहते हैं, यह और जकड़ लेता है। मुझे इससे छुटकारा दिलायें।'

मनुष्य जब सांसारिक बुद्धि-कौशलसे संसारसे बचना चाहता है तो संसार और अधिक उसपर आता है। जैसे, यदि हम चोरोंसे घिरे हुए हों और चोर घरमें हों तथा चोरोंके बन्धु-बान्धव जो चोरोंसे मिले हों, उनको हम अपना हितैषी मानकर चोरोंसे बचना चाहें तो वे आयँगे चोरोंसे बचानेवालोंके रूपमें, पर वे करेंगे क्या? इससे चोरोंका गिरोह और बलवान् हो जायगा और हम चोरोंसे और ग्रस्त हो जायँगे। इसी प्रकार सांसारिक बुद्धि-कौशलका सहारा लेकर जब हम संसारसे बचना चाहते हैं तो संसारमें और फँसते हैं। मनुष्यका मोह ही उसे कहीं कर्तव्य, कहीं नीति और कहीं धर्म बतलाता है। वह सारे सांसारिक बुद्धि-कौशलको सामने रखता है और प्रेरित करता है कि इनका आश्रय लो और इनका आश्रय ही आसुरी सम्पत्तिका आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय न लेकर जागतिक बुद्धि-कौशलका आश्रय ही असुराश्रय है। जब मनुष्य आसुरी भावका आश्रय लेता है तो भगवान्‌की मोहिनी माया उसके बुद्धि-कौशलको हर लेती है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७। १५)

मोहग्रस्तका ही नाम मूढ है। साधकको निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि वह अपेक्षित सांसारिक कार्य करे, परंतु सांसारिक बुद्धि-कौशलका आश्रय न लेकर भगवान्‌की ओर लगानेवाली वृत्तिका आश्रय ले। इसीको भगवान्‌का नित्य-स्मरण कहते हैं। भगवान्‌ने तो कहा है कि स्मरण करते हुए

युद्ध करो। युद्ध अकेले करो, ऐसा नहीं कहा है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

साधककी मुख्य वृत्तिका विषय केवल भगवान् ही हैं। मुख्य वृत्ति केवल भगवान्को विषय करती है। अन्य कार्य केवल भगवान्की पूजाके लिये ही हों तब ठीक है। साधकके अन्य कार्य गौण वृत्तिसे मुख्य वृत्तिकी रक्षा करता हुआ होना चाहिये। जब वह सांसारिक वृत्तिको मुख्य वृत्तिका स्थान दे देता है, तब पतित हो जाता है। इसलिये सांसारिक वृत्तिवाले और साधककी दृष्टिमें एक मौलिक भेद रहता है। सांसारिक वृत्तिसे मनुष्य जगत्को ही प्रत्यक्ष सत्य मानता है। जगत्का हानि-लाभ, मान-अपमान, सिद्धि-असिद्धि ही सत्य मानता है; क्योंकि जगत् उसके सामने है, परंतु साधककी मूल वृत्तिसे जगत् असत् है। वह जगत्की वृत्तियोंको देखता तो है, परंतु उसे भगवान्की लीलामात्र मानता है। '**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते**' (गीता १५। ३) जगत् जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं, यह जगत्का स्वरूप है।

जब मनुष्य मोहसे ढककर तमसाच्छन्न हो जाता है तो वह विपरीत दृष्टिवाला हो जाता है। पापसे, दुराग्रहसे, दुराचारसे हुए सांसारिक लाभको वह अपना लाभ मानता है। संसारमें बुद्धिमान् पुरुष जिसे लाभ नहीं मानते, उसको भी वह अपना लाभ मानता है। दृष्टि-भेदसे वस्तु-भेद होता है और वस्तु-भेदसे कार्य-भेद होता है। साधक और सांसारिकके दृष्टिमें दो मौलिक भेद रहते हैं—एक दैवीय सम्पत्तिका और एक आसुरी सम्पत्तिका। एक भगवान्की ओर जानेवाले जीवनका और एक जगत्की ओर जानेवाले जीवनका। उनमें फिर अवान्तर भेद हो जाते हैं।

जिनकी दृष्टि भगवान्की ओर है, वह अपने जागतिक लाभ-हानिकी परवाह किये बिना अपने मूल वृत्तिकी रक्षा करेगा, क्योंकि उसको उसीमें लाभ दीखता है। साधकको प्रथमतः सांसारिक लाभ-हानिसे अपनी दृष्टि ऊपर उठानी पड़ेगी। सांसारिक बुद्धि-कौशलका आश्रय छोड़ना पड़ेगा।

श्रीमद्भागवतमें भागवतोत्तम पुरुषोंके लक्षणमें बताया गया है कि वे त्रिभुवनका वैभव मिले और आधे लवके लिये भी भगवान्का विस्मरण हो, ऐसा नहीं चाहते हैं तथा त्रिभुवनका सुख-वैभव, स्वर्गका राज्य या मोक्ष मिलनेपर भी आधे लवके लिये भी भागवत पुरुषोंके संगसे अलग नहीं होना चाहते है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

अर्थात् सांसारिक भोगोंकी बात ही नहीं, स्वर्ग और मोक्षका लाभ एक तरफ और भगवत्प्रेमीका संग एक लवके लिये हो तो भी इनकी कोई तुलना नहीं। भगवान् कहते हैं कि जो मेरे जन हैं, वे सालोक्य, सार्ष्टि, सायुज्य, सारूप्य एवं सामीप्य—इन पाँचों प्रकारकी मुक्ति मिलनेपर भी भागवतोत्तम पुरुष भगवत्सेवा नहीं त्यागते हैं। जबकि विषयी ऐसा नहीं कर सकता। यह साधक और विषयीका दृष्टिभेद है।

विषयी व्यक्ति जिसके सामने संसार है, वह जिसमें हानि-लाभ सोचता है, उससे दूसरे दृष्टिकोणवाला साधक उससे विपरीत समझता है।*

जिसकी चित्तवृत्तिका प्रवाह निरन्तर भगवान्की ओर है वह साधक है। वह कभी इस प्रवाहमें रुकावट डालकर या मोड़कर संसारकी ओर नहीं करता है, चाहे सांसारिक लाभ-हानि जो भी हो। जबकि विषयी ऐसा नहीं कर पाता। यह साधक और विषयीका दृष्टिभेद है। हम विषयी हैं, हमें साधक बनना चाहिये और इसके लिये साधक-दृष्टिका होना आवश्यक है। साधक-दृष्टिमें जगत्से मुँह मोड़ना पड़ेगा। जगत्की ओरसे दृष्टि हटाये बिना हम साधनाके मार्गपर नहीं आते। साधन-पथपर चलनेमें पहले कष्ट होगा क्योंकि अभ्यास नहीं है। विषयोंमें लिप्त अपनी बुद्धिको जब हम भगवान्की ओर लगाना चाहें, तो बुद्धि घबड़ाती है। लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिये, विषयी वृत्ति छोड़नेकी बात आनेपर यदि प्रसन्नता हो तो ठीक है, क्योंकि यही कसौटी है। जो सात्त्विक सुख आत्मबुद्धिके प्रसादसे प्राप्त होता है, वह पहले जहर-सा मालूम पड़ता है। परंतु वह है अमृत जो आगे आनन्द देता है। विषयप्रवण बुद्धि मीठी लगनेपर भी जहरका कार्य करती है और भगवान्में लगने-

* दोनों ही ईमानदार हैं, परंतु दोनोंका दृष्टिकोण भिन्न है। एक जगत्में होनेवाले परिवर्तनोंको भगवान्का लीला—अभिनय मानता है। इसे अलीक, असत्य, स्वप्नवत्, मृगजलवत् मानता है, दूसरा इसे परम सत्य हानि-लाभयुक्त मानता है। इस प्रकार अलग-अलग दृष्टिसे अलग-अलग भावना होती है। अलग-अलग भावानुसार अलग-अलग रूपोंका दर्शन होता है।

वाली बुद्धि पहले कड़वी लगनेपर भी अमृतका कार्य करती है। इस बातको समझकर जो विषयोंको जहर मानकर इनका त्याग करेंगे और त्यागमें दु:ख होनेपर भी इसे सुख मानेंगे, जगत्से विपरीत बुद्धि करेंगे, वह साधककी श्रेणीमें आ सकते हैं। सांसारिक बुद्धि-कौशलसे संसारकी गाँठ कभी नहीं खुलती है। गाँठ खोलनेके लिये सांसारिक बुद्धि-कौशलसे पूर्ण होना पड़ेगा। संसारके हानि-लाभमें विपरीत बुद्धि करके, बिना किसी शर्तके भगवान्की कृपापर अपनेको छोड़कर, सर्वथा उनके आश्रित होकर, उनका स्मरण-भजन करनेपर, यह गाँठ अपने-आप खुल जायगी। जहाँ भगवान्से गाँठ लगती है, वहाँ संसारसे गाँठ अपने-आप छूटने लगती है। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि सांसारिक गाँठके रहते भगवान्से भी सम्बन्ध हो जाय—

जहाँ राम तहाँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँक रहि सके रवि रजनी एक ठाँम॥

हम ममताके बन्धनमें बँधे हैं तथा इस बन्धनको और मज़बूत कर रहे हैं। यदि हम साधककी श्रेणीमें आना चाहें तो जगत्के बन्धनसे मुक्त होनेकी यथार्थ इच्छा करनी पड़ेगी। यह बहुत दुर्लभ है। वेदान्तदर्शनके साधन-चतुष्टयमें आया है कि मुमुक्षुपना सहज नहीं है। इस हेतु सर्वप्रथम विवेक चाहिये, जिससे वैराग्यका उदय होता है। उससे सत्सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है, तब मोक्षकी यथार्थ इच्छाका जागरण होता है। मोक्षके लिये मोक्षकी तीव्र इच्छाका स्फुरण आवश्यक है। लेकिन मोक्षकी तीव्र इच्छाका जागरण तब होता है, जब छ: प्रकारका धन आता है, जो संसारसे वैराग्य होनेपर ही होता है। वैराग्य होनेपर ही सम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान—यह छ: षट्सम्पत्ति प्राप्त होती है। इनके प्राप्त होते ही मोक्षकी इच्छा होगी। हम मोक्ष नहीं चाहते, चाहते हैं बन्धन तथा इसे और बढ़ाते हैं। साधक-श्रेणीमें भी नहीं हैं। साधक-श्रेणीमें आनेपर देर नहीं लगती है। मोक्ष और मोक्षकी इच्छा प्राय: समान समयमें ही होते हैं; क्योंकि मोक्ष, मोक्षकी इच्छासे ही होता है। जबकि जगत्का भोग इच्छासे नहीं होता है, इसमें कर्मकी अपेक्षा है। जब कर्म होगा तब भोग प्राप्त होगा। भगवान्की प्राप्ति मोक्षकी प्राप्ति, यह अज्ञानजनित है, पर नहीं दीखती। इच्छा हुई नहीं कि दीखने लग जाती है। मोक्षकी इच्छा हो और मोक्ष न मिले, भगवान्की प्राप्तिकी तीव्र इच्छा जाग उठे और भगवान् न मिलें, यह सम्भव नहीं है। हममें साधकपना है ही नहीं, सिर्फ दम्भ करते हैं, दिखावा करते हैं। सच्चे साधक बने तो उसका क्रम है दीखे ठीक। जगत् जब असत्य दीखेगा तो अपने-आप इससे वैराग्य होगा। जब इहलोक और परलोकके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है तो अपने-आप छ: सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। मन और इन्द्रियाँ निगृहीत हो जायँगी। सहनशीलता आ जायगी। सम, दम, तितिक्षा और उपरति आयगी, भोग सामने रहनेपर भी भोगोंमें मन नहीं जायगा। उपरतिके बाद श्रद्धा आयगी और सभी शंकाओंका समाधान हो जायगा। तब मोक्षकी इच्छा जागेगी और मोक्षकी इच्छा जागी नहीं कि मोक्ष प्राप्त हो जायगा। इसलिये हमें सच्चा साधक, सच्चा भक्त बनना चाहिये।

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

मातृभूमिके योग्य पुत्र सिद्ध हों

यत् ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥
(अथर्व० १२। १। १२)

'हे पृथिवी! जो तेरे मध्यभागमें हैं और जो नाभि या केन्द्रमें हैं, तेरे जो ऊर्जस्वी शरीरधारी मनुष्य हैं, उन शरीरधारियोंमें हमें रखो और हमें पूर्णतया पवित्र करो। पृथिवी हमारी माता है और मैं पृथिवीका पुत्र हूँ।'

तुलसी-साहित्य और वेद

(डॉ० श्रीशुकदेवजी राय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

तुलसीदासजीकी रचनाएँ समन्वय-स्वरूप हैं। जिस प्रकार इनके व्यक्तित्वमें भक्त और कविका मणिकाञ्चन योग है, उसी प्रकार इनके साहित्यमें विभिन्न तत्त्वोंका समन्वय भी। इनका 'श्रीरामचरितमानस' समन्वयकी एक विराट् चेष्टा है और उसी प्रकार इनकी अन्य रचनाएँ भी समन्वय-गुण सापेक्ष हैं—इस बातकी स्वीकारोक्ति स्वयं कविकी इस पंक्तिसे हो जाती है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

सम्भवतः यही कारण है कि रचनाएँ कविके शब्दोंमें **'स्वान्तःसुखाय'** होते हुए भी बहुजन-हिताय हैं और इसीलिये उच्चकोटिके साहित्यमें मान्य है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

(रा० च० मा० १। १४। ९)

अर्थात् 'कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही उत्तम है, जो गङ्गाजीकी तरह सबका हित करनेवाली हो।' यही सर्वहितकी भावना 'सहित' शब्दके अपत्यरूप साहित्य-शब्दके यथार्थका द्योतन करती है।

मानसमें लोक और धर्मके क्षेत्रमें, ज्ञान और कर्मके क्षेत्रमें, नाम और रूपके क्षेत्रमें, साकार और निराकारके क्षेत्रमें, काव्यके क्षेत्रमें, कथा और काव्यकी परिधिमें तथा अन्य अनेक क्षेत्रोंमें समन्वयका सफल प्रयास स्पष्टतः परिलक्षित है। उसी क्रममें लोक और वेदका समन्वय सर्वथा परिदर्शनीय है।

वेद क्या है? इसका परिशीलन इस प्रसंगमें आवश्यक-सा प्रतीत होता है।

'विद' धातुसे **'घञ्'** प्रत्यय लगाकर बननेवाला 'वेद' शब्द ज्ञानका प्रतीक है। ईश्वर ज्ञानका सम्पूर्ण रूप है। जीवका लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति है। इसके तीन साधन माने गये हैं—(१) ज्ञान, (२) कर्म और (३) आराधना। ज्ञानका अन्तिम लक्ष्य ईश्वरके स्वरूपको जानना है। ईश्वर जीवको इस विश्वमें कर्मका क्षेत्र देता है, कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है। जिस प्रकार ज्ञानका अन्तिम ध्येय ईश्वरको जान लेना है, उसी प्रकार कर्मयात्राका चरम लक्ष्य ईश्वरका साक्षात् करना अथवा उसकी प्राप्ति है।

हमारी इच्छाकी पूर्ति भोग है। ज्ञान और कर्मकी मीमांसा तो हम केवल मनुष्य-शरीरमें ही कर सकते हैं, परंतु योगके सिद्धान्तोंको चेतन जगत्के स्वाध्यायसे समझ सकते हैं। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य मोक्ष है और वहाँतक पहुँचनेके लिये ज्ञान, कर्म और उपासना साधना-त्रयी है। वेदत्रयीमें इनका वर्णन है। ईश्वरके साक्षात्कारके सम्बन्धमें जो मान्य धारणाएँ हैं, उससे तुलसीदासजी पूर्णतः सहमत नहीं लगते। इनके 'श्रीराम' परम ब्रह्म परमेश्वर हैं। वे साधन-साध्य नहीं हैं, अपितु कृपा-साध्य हैं—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

(रा० च० मा० ४। २१। ६)

प्रभुके गुणोंका गान करनेवाले वेदोंने उनके कर्मको समझ पानेके सम्बन्धमें केवल 'नेति-नेति' कहा है—

सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥

(रा० च० मा० १। १२)

तुलसीदासजीके काव्यमें लोक-मङ्गलकी भावना है—लोकाचार और वेदाचारको साथ-साथ लेकर चलनेका स्तुत्य प्रयास है। वेद-वर्णित मार्गके अनुगमनको ही इन्होंने इस कामके लिये श्रेय माना है, पर कहीं भी लोकाचारकी उपेक्षा नहीं है। अतः इनकी रचनाओंमें लोकाचार और वेदाचार एक-दूसरेके अनुगामी-जैसे लगते हैं। पता ही नहीं चलता कि लोकाचारका अनुगमन वेद कर रहा है या वेदका अनुगमन लोकाचार। पुरोहित वेद-मन्त्र भले भूल जायँ, क्रियामें व्यतिक्रम भले ही हो जाय, पर लोकाचारमें प्रवीण नारियाँ अपने मङ्गलगीतोंके माध्यमसे सही मार्गका दिग्दर्शन अवश्य करा देती हैं।

वेदको तुलसीदासजीने अपने काव्यमें बहुत विस्तृत अर्थमें लिया है। उसके अन्तर्गत 'वेदत्रयी' के अतिरिक्त 'गृह्यसूत्र'-तक समाहित किये गये हैं। तुलसी-काव्यमें 'वर्णाश्रम-धर्म' और जीवनको परिवर्धित और परिष्कृत करके मानव-मूल्योंके साथ जोड़नेवाले संस्कारोंका यथास्थान सटीक वर्णन मिलता है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्तके लगभग सारे संस्कार तुलसी-काव्यमें उल्लिखित हैं।

रामजन्मके समय जातकर्मका वर्णन इस प्रकार है—*'नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह'* (रा० च० मा० १। १९३)। कुछ बड़े होनेपर फिर रामके यज्ञोपवीतका वर्णन मानसमें मिलता है। *'भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥'* (रा० च० मा० १। २०४। ३)। इसके बाद वेदारम्भ होता है—*'गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥'* (रा० च० मा० १। २०४। ४)।

विवाहकी भी चर्चा इसी प्रसंगमें मिलती है। जनकपुर धनुष-यज्ञशालामें रामके विजयके उपरान्त जो क्रिया होती है, उसमें वेदके योगका वर्णन इस प्रकार है—

जहँ तहँ बिप्र बेदधुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं॥

(रा० च० मा० १। २६५। ४)

धनुषभंगके उपरान्त मुनिने जो आदेश दिया है, उसमें वेदाचार और लोकाचारको मिलाकर चलनेकी कैसी अनुपम योजना है—

तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुर बेद बिदित आचारु॥

(रा० च० मा० १। २८६)

ग्रामीण गीत और वेद-मन्त्रके साथ-साथ चलनेका उपक्रम कितना मनोहर है—

(क) 'सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेद धुनि बिप्र पुनीता॥'

(रा० च० मा० १। ३१३। ४)

(ख) बेद बिहित अरु कुल आचारू। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू॥

(रा० च० मा० १। ३१९। २)

विवाहकी विधियोंमें वैदिक रीति और मन्त्रोंकी प्रधानताको इन शब्दोंमें स्वीकारा गया है—

बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं॥

(रा० च० मा० १। ३२३)

विवाहके समय स्वस्तिवाचनका कितना सुन्दर वैदिक विधान है—

पढ़हिं बेद मुनि मंगल बानी। गगन सुमन झरि अवसरु जानी॥

(रा० च० मा० १। ३२४। ७)

विवाहकी सारी प्रक्रियाको पूरी करनेमें लोक और वेद दोनों रीतियोंका कैसा मिलान है—

जो बसिष्ट अनुसासन दीन्ही। लोक बेद बिधि सादर कीन्ही॥

(रा० च० मा० १। ३५२। १)

तुलसीके श्रीराम स्वयं 'श्रुति सेतु पालक हैं।' वे लोकमें आकर भी वेदको कैसे भुला सकते हैं? *'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस०।'* राज्याभिषेकके समय भी लोक और वेदके निर्देशनको कविने ध्यानमें रखा है—

लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥

(रा० च० मा० २। २०७। ३)

भरतके परितोषके लिये जो कुछ कहा गया है, उसमें लोक और वेदके सम्मिलित गतिका आभास है—

बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥

(रा० च० मा० २। १७५। ३)

संस्कारोंमें अन्त्येष्टि अन्तिम संस्कार है। यह वेद-विहित है। उसका वर्णन भी महाराज दशरथकी अन्त्येष्टि-क्रियाके समय मिलता है—

(क) सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥

(रा० च० मा० २। १७०। ४-५)

(ख) नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥

(ग) सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥

(रा० च० मा० २। १७०। १, ६)

वेदकी अत्यधिक महत्ताको कविने लोक-मङ्गलके लिये स्वीकारा है और उसकी उपेक्षाको अहितकारी कहा है—

गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥

(रा० च० मा० २। ६१)

श्रीरामचरितमानसकी भाँति ही तुलसीकी अन्य छोटी-बड़ी रचनाएँ इस मधु-मङ्गल योगसे खाली नहीं हैं। विनय-पत्रिकामें भी वेदकी चर्चा है—*'बेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भगति बर माँगै॥'* (पद २) शिवके प्रार्थनामें वेद-चर्चा इस प्रकार है—

बेद-पुरान कहत उदार हर। हमरि बेर कस भयेहु कृपिनतर॥

(पद ७)

लोक और वेदका समन्वय श्रीरघुनाथके चरित्रमें दर्शाया गया है—*'लोक बेद बिदित बड़ो न रघुनाथ सों'*

इसी प्रकार आत्म-निवेदनमें वर्णित ये पंक्तियाँ उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं—

श्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।

(वि० पद १८६)

ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ! न मेरें॥

(विनय-पत्रिका, पद १८७)

अपनी छोटी रचना 'वैराग्य-संदीपनी' में भी कविने एक स्थानपर वेदको इसी क्रममें जोड़ा है—

तुलसी बेद-पुरान-मत पूरब सास्त्र बिचार।

(वै० स०, पद ७)

तुलसीदासजीकी सबसे छोटी दो रचनाएँ हैं—'जानकी-मङ्गल एवं पार्वतीमङ्गल।' इनमें लोकाचार और वेदाचारका संघटन दिखाया गया है। इन रचनाओंकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आर्षवाक्योंको—वेदवाक्योंको नारीकण्ठसे ध्वनित करनेका प्रयास किया गया है। जो आजतक अनवरतरूपसे जीवित है। एक प्रकारसे ये लोकगीतोंमें उतर आये हैं, जिन्हें नारीकण्ठने अपनेमें समाहित कर लिया है। जैसे —*'लोक बेद बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।'* (पा० म० १३०)

कुल बिबहार बेद बिधि चाहिय जहँ जस।

(जा० म० १३९)

'कवितावली' में भी वेद और लोकके इस महायोगको घटित करनेका प्रयास मिलता है—

निगमागम-ग्यान, पुरान पढ़े, तपसानलमें जुगपुंज जरै।

(उत्तर० ५५)

'दोहावली' का यह दोहा इस प्रसंगमें कितना मार्मिक लगता है—

श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

(५५५)

'गीतावली' में तुलसीदासजीने लोकमें वैदिक क्रियाओंका मेल स्थान-स्थानपर दिखाया है, जिनका अपना महत्त्व है—

क—कीन्हि बेदबिधि लोकरीति नृप, मंदिर परम हुलास।

(पद बाल० २)

ख—बैदिक बिधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानिकै।

(पद बाल० ५)

ग— लोक-बेद-सनेह पालत पल कृपालहि जाहिं॥

(पद उत्तर० २६)

इस प्रकार तुलसीदासजीने अपनी छोटी-बड़ी रचनाओंमें लोक और वेद सम्मिलित स्वरूपको उपस्थापित करनेका और उसकी उपादेयता सिद्ध करनेका प्रयास किया है। सचमुच तुलसीका काव्य लोकमें वेद और वेदमें लोकका प्रतिबिम्ब है। उपसंहार-स्वरूप तुलसीका साहित्य इसीका उद्घोष करता है कि चारों वेद भगवान् श्रीरामके विशद यशका वर्णन करते हुए स्वप्नमें भी तृप्त नहीं होते—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

नाचत हि निसि-दिवस मर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्‌यो॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर गगन जल-थलमें, कौन न स्वाँग कर्‌यो॥
देव-दनुज, मुनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‌यो।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हर्‌यो॥
थके नयन, पद, पानि, सुमति, बल, संग सकल बिछुर्‌यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय बिकल डर्‌यो॥
जेहि गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो॥

(विनय-पत्रिका पद ९१)

साधकोंके प्रति—

त्यागसे कल्याण

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान् बिना हेतु स्नेह करनेवाले अर्थात् स्वाभाविक ही कृपा करनेवाले हैं। वे भगवान् विशेष कृपा करके जीवको अपना उद्धार करनेके लिये मानवशरीर देते हैं—*'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* (मानस, उत्तर० ४४। ३)। जीव अपना उद्धार कैसे करे? जैसे जलाशयमें पड़ा हुआ कोई व्यक्ति अपना उद्धार करना चाहे तो वह जलको अपने हाथोंसे और लातोंसे मारता चला जाय, ऐसा करनेसे वह तर जायगा। परंतु वह ऐसा न करके जलको हाथोंसे लेने लगे तो वह निश्चित ही डूब जायगा। ठीक यही बात संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवपर भी लागू होती है। अगर वह संसारका त्याग करने लगे तो वह तर जायगा, उसका उद्धार हो जायगा। परंतु वह संसारसे लेना शुरू कर दे तो वह डूब जायगा।

जो संसारसे अपना उद्धार चाहता है, उसको यह अवश्य ही मान लेना चाहिये कि हमारेको जो कुछ मिला है, जो वस्तु, योग्यता और बल मिला है, वह सब-का-सब केवल सेवा करनेके लिये मिला है। कारण कि जो मिला है, वह अपना नहीं है। अगर कारणकी दृष्टिसे देखें तो वह प्रकृतिका है, कार्यकी दृष्टिसे देखें तो वह संसारका है और मालिककी दृष्टिसे देखें तो वह भगवान्‌का है। वह अपना नहीं है—यह सच्ची बात है। जो मिला है, वह अपना उद्धार करनेके लिये मिला है। उद्धार तब होगा, जब हम मिले हुएको अपना न मानें, उससे सुख न लें। तात्पर्य है कि जो मिला है, वह केवल त्याग करनेके लिये अर्थात् दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिला है और ऐसा करनेसे ही हमारा कल्याण होगा।

बाहरसे वस्तुका त्याग करनेसे कल्याण नहीं होता। कल्याण भीतरके भावसे होता है अर्थात् भीतरसे वस्तुओंका त्याग करनेसे, उनके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे कल्याण होता है। जड़ वस्तुओंका सम्बन्ध ही पतन करता है और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद ही उद्धार करता है। स्वयं चेतन होते हुए भी जीवने जड़को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया—यही बन्धन है। इसने जड़ शरीरको सत्ता दे दी कि 'शरीर है', उसको महत्ता दे दी कि 'शरीरके बिना सुख नहीं मिल सकता' और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया कि 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है।'

हमारेको जो कुछ मिला है, वह सब बिछुड़नेवाला ही मिला है। शरीर मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, कुटुम्ब मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, धन मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है, योग्यता मिली है तो बिछुड़नेवाली मिली है, बल मिला है तो बिछुड़नेवाला मिला है। बिछुड़नेवाली वस्तुका त्याग कर दें तो स्वतः कल्याण होता है—यह भगवान्‌की बड़ी विलक्षण कृपा है! भगवान् मिले हुए और बिछुड़नेवाले नहीं हैं, प्रत्युत सदासे ही मिले हुए हैं, सदा मिले हुए ही रहते हैं, कभी बिछुड़ते नहीं। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ है, वह सब-का-सब बिछुड़नेवाला है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परंतु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

मनुष्यशरीर केवल त्याग करनेके लिये ही मिला है। त्याग करनेसे अपने घरका कुछ भी खर्च नहीं होगा और कल्याण मुफ्तमें हो जायगा! अतः मिली हुई वस्तुका हृदयसे त्याग कर दें कि यह हमारी नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है तो कल्याण हो जायगा—यह पक्का सिद्धान्त है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२); क्योंकि शरीर, योग्यता, बल, बुद्धि आदि जो कुछ मिला है, त्याग करनेके लिये ही मिला है। त्याग नहीं करेंगे तो भी वे बिछुड़ेंगे ही। साथमें रहनेवाली कोई भी चीज नहीं है।

दान-पुण्य करते हैं तो लोग समझते हैं कि रुपयोंसे कल्याण होता है। वास्तवमें रुपयोंसे कल्याण नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंमें जो मोह है, उसके त्यागसे कल्याण होता है। अगर बाहरसे रुपयोंका त्याग करनेसे ही कल्याण होता तो धनी आदमी कल्याण कर लेते और गरीबोंका कल्याण

होता ही नहीं।

एक मार्मिक बात है। संसार सत् है या असत्, नित्य है या अनित्य—इस विषयमें बड़ा मतभेद है। परंतु संसारका सम्बन्ध असत् है, अनित्य है—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। जड़-चेतनका सम्बन्ध असत् है; क्योंकि जड़-चेतनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। अत: संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करना है। असत् अपना नहीं है—यही असत्का त्याग है। असत्के त्यागसे सत्-तत्त्व परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी। शरीर बिछुड़ जायगा तो मौत हो जायगी, पर उसके सम्बन्धका त्याग कर दें तो मौज हो जायगी! छूटनेवालेको हम अपनी मरजीसे छोड़ दें तो आनन्द हो जायगा, पर वह जबर्दस्ती छूटेगा तो रोना पड़ेगा।

असत्के त्यागका उपाय है—हमारे पास जो वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य है, उसका प्रवाह हमारी तरफ न होकर संसारकी तरफ हो जाय अर्थात् वह संसारकी ही सेवामें लग जाय, यह कर्मयोग है। विवेक-विचारके द्वारा असत्से ऊँचे उठ जायँ, उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लें तो यह ज्ञानयोग है। सब कुछ भगवान्का मान लें और भगवान्को अपना मान लें तो यह भक्तियोग है। ये तीनों योग जीवका उद्धार करनेवाले हैं। तीनों योगोंमें खास बात है—त्याग। त्याग करनेके लिये ही हमारेको यह मनुष्यशरीर मिला है। त्याग यही करना है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध चाहे सेवा करके छोड़ दें, चाहे विचारपूर्वक छोड़ दें, चाहे भगवान्के शरण होकर छोड़ दें। गुणोंका संग ही जन्म-मरणमें कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। गुणोंका संग छूट जाय तो फिर जन्म-मरण कैसे होगा?

माना हुआ सम्बन्ध न माननेसे छूट जाता है—यह नियम है। संसारका सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। जैसे, अमावास्याकी रात्रि और सूर्यका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, ऐसे ही जड़ और चेतनका परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। अत: जड़-चेतनका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और न माननेसे छूट जायगा, जो कि वास्तवमें पहलेसे ही छूटा हुआ है। इस असत्य सम्बन्धकी मान्यता छोड़नेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है। इसको छोड़नेकी योग्यता भी पापी-पुण्यात्मा, दुष्ट-सज्जन सबमें है। इसमें सब-के-सब पात्र हैं, कोई कुपात्र नहीं है। केवल त्यागका भाव चाहिये और कुछ नहीं। जब हम अपने मनसे ही सब कुछ छोड़ देंगे तो फिर बन्धन कैसे रहेगा? असत्यको सत्य मानने और उसको महत्त्व देनेके कारण ही उसको छोड़ना कठिन प्रतीत होता है। मिट्टीके लौंदेको जहाँ फेंको, वहीं चिपक जाता है। दीवारपर फेंको तो दीवारको पकड़ लेता है। परंतु रबरकी गेंदको फेंको तो वह कहीं चिपकती नहीं। हमें रबरकी गेंद बनना है, मिट्टीका लौंदा नहीं। चिपकना ही बन्धन है और न चिपकना, निर्लेप रहना ही मुक्ति है।

जो पकड़ा है, अपना मान रखा है, उसको छोड़ दें अर्थात् अपनापन हटा लें तो मुक्ति हो जायगी। वास्तवमें संसार छूटा हुआ ही है। केवल थोड़े-से रुपये, थोड़ी-सी जमीन-जायदाद, थोड़े-से व्यक्ति पकड़े हुए हैं, बाकी सब तो छूटा हुआ है, सबसे मुक्ति है। अरबों रुपयोंसे मुक्ति है, अरबों वस्तुओंसे मुक्ति है, अरबों आदमियोंसे मुक्ति है। केवल थोड़े-से रुपये, वस्तु, व्यक्ति आदि पकड़े हुए हैं, उतना ही बन्धन है। उतना छोड़ दें तो फिर बन्धन कहाँ रहा? तात्पर्य है कि मुक्ति कठिन नहीं है, बहुत सुगम है। वस्तु-व्यक्तिके सम्बन्धसे हम सुख लेना चाहते हैं—इस सुख-लोलुपताके कारण मुक्ति कठिन मालूम देती है। वास्तवमें सुख बहुत थोड़ा है और दु:ख बहुत अधिक है—

'अनाराम' कहे सुख एक रती, दुख मेरु प्रमाण ही पावता है॥

गीताने तो संसारको दु:खालय कहा है—**'दु:खालयम्'** (८। १५)। संसार दु:खोंका ही घर है, यहाँ सुखको ढूँढ़ना व्यर्थ है। रामायणमें भी आया है—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस, उत्तर० ४४। १)। यह मनुष्यशरीर सुख लेनेके लिये है ही नहीं। जहाँ सुख लिया, वहीं फँसे। मानमें, बड़ाईमें, आराममें, नीरोगतामें, आलस्यमें, प्रमादमें, खानेमें, सोनेमें, जिसमें सुख लेंगे, उसीमें फँस जायँगे। परंतु ये सब चीजें छूटनेवाली हैं, रहनेवाली नहीं हैं। जो चीज बिछुड़नेवाली है, उससे अपनापन हटा लें—यही मुक्ति है। यह अपनापन अपनेसे न छूट सके तो

भगवान्‌को पुकारो, वे छुड़ा देंगे। व्याकुल होकर, दुःखी होकर भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! शरीर-संसारसे मेरापन छूटता नहीं, क्या करूँ! तो भगवान्‌की कृपासे छूट जायगा।

संसारका कोई भी सुख रहता नहीं—यह सबका अनुभव है। इसका कारण यह है कि वह सुख हमारा है ही नहीं। अगर हमारा सुख होता तो वह सदा रहता। हमारा सुख तो निजानन्द है। 'पर' से होनेवाला सुख परानन्द है और 'स्व' से होनेवाला सुख निजानन्द है। परानन्द ठहरेगा नहीं और निजानन्द जायगा नहीं। निजानन्द हमारा खुदका है, इसलिये एक बार अनुभवमें आनेपर फिर कभी हमारेसे अलग नहीं होता। परानन्दकी आसक्तिके कारण ही निजानन्दका अनुभव नहीं होता।

सांसारिक सुखकी आसक्ति न छूटे तो निराश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारना चाहिये कि 'हे नाथ! हे प्रभो! यह मेरेसे छूटती नहीं, क्या करूँ? आप बचाओ तो बच सकता हूँ—

हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनय-पत्रिका ८९)

आप सबके प्रेरक हैं। आपकी प्रेरणासे छूट जायगी। आपके लिये तो मामूली बात है—*'काम हमारे जमत है, रमत तिहारी राम'।* 'आपका तो खेल है, पर हमारी आफत मिट जायगी।'

एक मार्मिक बात है कि सांसारिक सम्बन्धको छोड़नेकी इच्छा करनेसे वह छूटता नहीं, प्रत्युत और दृढ़ होता है। कारण कि हम छोड़ना चाहते हैं तो वास्तवमें उसको सत्ता देते हैं अर्थात् उसकी सत्ता मानते हैं, तभी छोड़नेकी इच्छा करते हैं। इसलिये उससे तटस्थ हो जायँ, चुप हो जायँ अर्थात् एक परमात्मा ही हैं—ऐसा निश्चय करके कुछ भी चिन्तन न करें तो वह स्वतः छूट जायगा; क्योंकि दूसरी सत्ता है ही नहीं, सत्ता एक ही है। हम तटस्थ नहीं होते, यही बाधा है। हम संसारका विरोध करते हैं, तभी वह छूटता नहीं। वास्तवमें तो वह निरन्तर ही छूट रहा है। केवल हमारे तटस्थ, उदासीन होनेकी आवश्यकता है। अगर हम केवल दुःखी, व्याकुल हो जायँ तो भी वह छूट जायगा, चाहे परमात्माको मानें या न मानें। जो योगमार्गमें अथवा ज्ञानमार्गमें चल रहे हैं, उनके लिये तटस्थ होना बढ़िया है। जो भक्तिमार्गमें चल रहे हैं, उनको भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता असह्य हो जाय।

सांसारिक सम्बन्ध स्वतः छूट रहा है, पर हम नया-नया पकड़ते रहते हैं। बालकपना छूट गया तो जवानी पकड़ ली, जवानी छूट गयी तो बुढ़ापा पकड़ लिया, रोगीपना छूटा तो नीरोगता पकड़ ली, दरिद्रता छूटी तो धनवत्ता पकड़ ली। अगर यह पकड़ना छोड़ दें तो वह स्वतः छूट ही जायगा। हमें केवल त्यागका भाव बनाना है, त्यागी नहीं बनना है। त्यागी बननेसे त्याज्य वस्तुके साथ सम्बन्ध हो जायगा। जो मिला है, वह तो छूटेगा ही। वह बना रहे अथवा न बना रहे—यही बन्धन है और कोई बन्धन नहीं है। आजतक सृष्टिमें किसीका भी सम्बन्ध नहीं रहा तो हमारा सम्बन्ध कैसे रहेगा? यह तो छूटेगा ही। इसलिये हम ही अलग हो जायँ!

पारमार्थिक मार्गमें साधकको हिम्मत नहीं हारनी चाहिये; क्योंकि इसमें विजय निश्चित है। परमात्मासे तो कभी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये—**'आशा हि परमं दुःखम्'** (श्रीमद्भा० ११।८।४४)। परमात्मा परम दयालु हैं, सर्वसमर्थ हैं और सर्वज्ञ हैं। वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारे दुःखको जानते हैं। वे परम दयालु हैं, इसलिये हमारे दुःखको सह नहीं सकते। वे सर्वसमर्थ हैं, इसलिये हमारे दुःखको दूर कर सकते हैं। परंतु जो सांसारिक पदार्थोंके लिये दुःखी होता है, वह कितना ही रोये, रोते-रोते मर जाय, पर भगवान् उसकी बात सुनते ही नहीं। कारण कि वह वास्तवमें दुःखके लिये ही रो रहा है! परंतु जो संसारका त्याग करनेके लिये रोता है, भगवान्‌को पानेके लिये रोता है, उसका दुःख भगवान् सह नहीं सकते।

मनुष्य सांसारिक सुखमें फँसा है तो यह वास्तवमें केवल सुखलोलुपता है, सुखका लोभ है। सुख मिलता नहीं है। सुखकी मामूली झलक मिलती है, उसीमें वह फँसा रहता है। जैसे, गधेको सुबह थोड़ा-सा मोठ-नमक मिलाकर देते हैं। उसको खानेसे दाँत कड़कड़-कड़कड़ बोलते हैं तो वह राजी हो जाता है। फिर उससे दिनभर

पत्थर ढोनेका काम लेते हैं। रात होनेपर उसको छोड़ देते हैं। रातमें वह गलियोंमें घूमता रहता है और सुबह होनेपर मोठ-चना खानेके लिये स्वतः चला आता है! इस प्रकार थोड़े-से सुखके लिये गधा पूरे दिन पत्थर ढोता है। अगर वह सुख छोड़ दे तो फिर पत्थर क्यों ढोना पड़े! इसलिये जबतक हम थोड़े-से सुखके लिये नया-नया सम्बन्ध जोड़ते रहेंगे, तबतक दुःख छूटेगा नहीं। जहरके लड्डू हम नहीं छोड़ेंगे तो जहर हमें नहीं छोड़ेगा। यह सुखासक्ति अगर हमारेसे न छूटे तो निर्बलताका अनुभव करके भगवान्‌को पुकारना चाहिये—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्यो, आये आधे नाम॥
द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम।
दुस्सासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये स्याम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम॥

जबतक भगवान् सुखासक्ति न छुड़ायें, तबतक पीछे पड़े रहो। जैसे, बच्चा माँका पल्ला पकड़कर पीछे पड़ जाता है कि मेरेको लड्डू दे दे तो माँ हारकर कह देती है कि जा, ले ले! ऐसे ही दुःखी होकर भगवान्‌के पीछे पड़ जाओ तो वे सुखासक्ति छुड़ा देंगे।
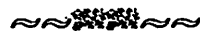
'सियराम-सरूपु अगाध अनूप.........'

(डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय')

संसार नाम-रूपात्मक है, हम सब अपने तथा पराये भ्रमात्मक नाम-रूपोंकी आसक्तिमें फँसकर प्रीतिके परमाश्रय सच्चिदानन्द प्रभुसे पराङ्मुख होकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। तत्त्वतः अनाम और अरूप परमात्मा भी मानो हम संसारियोंकी इसी विवशताको देखकर सगुण-साकार बन जाते हैं और अपनी अवतार-लीलामें दिव्य नाम और रूपोंको धारण करके भक्तोंके जागतिक नाम-रूपकी मायाको दूर करते हुए प्रेम-रसका विस्तार करते हैं। नाम और रूप दोनों ईश्वरकी उपाधियाँ हैं—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

(रा० च० मा० १। २१। २)

इनका आश्रय, भक्ति-पथका मधुर पाथेय है। नाम, रूप, लीला और धाम—सगुण ब्रह्मके ये चार स्वरूप हैं, जिनमें 'नाम' को भक्ति-कल्पवल्लीके बीजके सदृश, 'रूप' को वितानके समान, 'लीला' को पुष्प और 'धाम' को फलके तुल्य कह सकते हैं। धाम-रूप फलके परिपाकमें पुनः बीजरूप 'नाम' की ही उपलब्धि होती है। अतः नामकी व्याप्ति अनन्य साधारण है।

'रूप' वितान है, भावका पल्लवन और प्रसार रूपके बिना सम्भव नहीं। अवतारकालमें प्रभुके 'रूप' का दर्शन और तद्व्यतिरिक्त समयमें 'ध्यान', दोनों ही भावालम्बनके साधन हैं। प्रभुका रूप हृदयमें आ जाय तो अमित सुख अर्थात् परमानन्दकी सम्प्राप्तिमें विलम्ब नहीं लगती—

श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥

(रा० च० मा० १। १११। ८)

इसीलिये रूप-दर्शनकी अभीप्सा सभी भक्तोंका सहज स्वभाव है। परमभक्त स्वायम्भुव मनुकी उक्ति है—

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

(रा० च० मा० १। १४६। ४—६)

अवतार-लीलामें शक्ति और शक्तिमान्—दोनोंका समान महत्त्व है। अतएव दोनोंके रूपोंकी विभूति भी एक-जैसी अनुपमेय और नयनानन्द-संवर्धिनी है। कवितावलीमें गोस्वामीजीने श्रीसीतारामके रूप-तत्त्वके विषयमें एक बड़ी तात्त्विक और अनूठी बात कही है—

सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है॥
मति रामहिसों, गति रामहिसों, रति रामसों, रामहिको बलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है॥

(उत्तरकाण्ड ३७)

इस पद्यके प्रथम चरणका विवेचन ही यहाँ प्रसंग-प्राप्त है। श्रीसीताराम अर्थात् 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' की युगल

छविको धारण कर प्रकट हुए परम प्रभुका रूप ही हमारे विलोचनरूपी मछलियोंका जीवनाधार जल है। संसारके अन्य रूप तो नेत्रोंकी 'जलन' अर्थात् उन्हें राग-द्वेषादिकी आँचमें जलानेवाले हैं। इसलिये उन्हीं प्रभुका दर्शन और ध्यान करने योग्य है। प्रभुके रूपके दो ऐसे विशेषण हैं, जो अन्य जागतिक रूपोंमें सम्भव ही नहीं—प्रथम 'अगाधता' और दूसरा 'अनूपता'।

'अगाध' का अर्थ है, जिसकी 'थाह' न मिले—जिसकी सीमा या इयत्ताका पता न चले। संसारमें कोई प्राणी-पदार्थ कितना भी सुन्दर क्यों न हो, प्रथम दृष्टिमें जितना सुन्दर लगेगा, द्वितीय या तृतीय दृष्टिमें उतना नहीं लगेगा। सदा दृष्टिपथमें आने लगे तो उस सौन्दर्यकी थाह मिल जायगी, उससे नेत्र और मन दोनों ऊब जायँगे और फिर वह साधारण सुन्दर भी नहीं लगेगा।

पर चाहे श्रीकिशोरीजी हों या प्रभु श्रीरामभद्र, उनका रूप सदैव 'अगाध'—असीम बना रहता है। देखनेवालोंको वह नित्य-नवीन, नवनवोन्मेषशाली ही प्रतीत होता है। सदा पास रहकर दर्शन-सुख प्राप्त करनेवाले भाग्य-भाजन भी उससे कभी ऊबते या तृप्त होते नहीं देखे जाते। नित्य-सहचर प्रभुके प्रिय बन्धु श्रीभरतलालका अनुभव इस विषयमें प्रमाण है—

दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन॥

(रा० च० मा० २। २६०)

भगवती जनकनन्दिनीके रूपकी भी यही महिमा है। ग्राम्य-वधूटियाँ श्रीजीसे बार-बार यही तो कहती हैं—

दरसनु देब जानि निज दासी। लखीं सीयँ सब प्रेम पिआसी॥

(रा० च० मा० २। ११८। ३)

भगवद्रूपका दूसरा वैशिष्ट्य है—'अनुपम' होना। सांसारिक रूपोंका किसी-न-किसीके साथ यत्किञ्चित् सादृश्य तो रहता ही है। पूरे-के-पूरे एक-जैसे न सही तो भी पिता-पुत्र, युग्म-बन्धु, बहिन और भाई आदि अनेक अंशोंमें एक-जैसी आकृति और छविवाले देखे जा सकते हैं। या फिर उनके रूपकी सुन्दरताको किसी सुन्दर उपमानसे उपमित करके वर्णन या अनुभव किया जा सकता है। किंतु श्रीसीता-राम दोनोंके रूपकी तत्त्वत: कोई समता सादृश्य या साधर्म्य-सम्बन्धसे बन पाती हो, ऐसा सम्भव नहीं। श्रीरामभद्रके रूपके एक अङ्ग श्यामताकी ही उपमामें कई उपमान जुटाने पड़ गये—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

(रा० च० मा० १। १४६)

जनकपुरकी भोली ललनाओंने अवधेशकुमारके रूपकी तुलनाका प्रयास किया अवश्य, पर अन्तमें हार माननी ही पड़ी—

जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥
कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥
बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिअ जाही॥

(रा० च० मा० १। २२०। ४—८)

इसी प्रकार श्रीजनकनन्दिनी भी सर्वथा अनुपमेयस्वरूपा हैं—

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥

(रा० च० मा० १। २४७। १-२)

तथा—

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥

(रा० च० मा० १। २४७। ७-८, दोहा २४७)

इसी हेतु इन दोनोंके रूप, लोकोत्तर दिव्य तथा नित्य-ध्यानके विषय हैं। 'जगत्के क्षणभङ्गुर रूपोंके अपवित्र चिन्तन और मोहमूलक आसक्तिको छोड़कर श्रीसीतारामके पावन रूप-रसमें ही मनको निमग्न कर देना चाहिये'—यही श्रीगोस्वामीजीका तथा सभी भक्तजनोंका वन्दनीय अभिमत है।

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं०श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ६७६ से आगे]

अचल शान्ति लाभ करवे कौ उपाय—

इतने बड़े विश्वमें काहू सौं द्वेष नहीं करै। यदि कोई द्वेष करै तौ वासौं मैत्री कौ ही व्यवहार करै। तऊ द्वेष करै तौ वापै दया करै। तऊ न मानैं तौ वासौं निर्मम है जाय, उपेक्षित है जाय। अभिप्राय यह है कि मनमें यह विचार ही न करै कि मैं जाके संग कितनौं सद्व्यवहार करूँ हूँ तऊ यह कैसौ है कि मानैं ही नहीं है। फिर यह सब करते भये हूँ अहंकार न हौन पावै। अपनी विनम्रता कौ, सरलता कौ हूँ अहंकार है जाय है, जो पतन कौ हेतु ही सिद्ध होय है।

भजन करते भये हू यदि भजनमें आनन्द नहीं आवै, भजन कौ जो यथार्थ फल है शान्ति, याकी अनुभूति यदि न होय, तौ जानि लैनौं चहिए कि, इन तीननमें सौं कोई न कोई बात हमारे जीवनमें चिपक रही है—

१-असमर्पित अथवा रजोगुणी, तमोगुणी आहार।

२-कुसंगकी प्राप्ति और सत्संग कौ अभाव।

३-अन्याश्रयकी प्राप्ति और अनन्य आश्रय कौ अभाव।

इनमें सौं यदि एक हू है, तौ शान्ति नहीं मिल सकै है और यदि तीन्यौंके तीन्यौं ही हैं तौ फिर तौ शान्तीकी छाया कौ हू स्पर्श नहीं है सकै है।

श्रीनाम-जप कौ फल है कि निरन्तर, उत्तरोत्तर श्रीनाम-जपकी रुचिमें वृद्धि और नामीमें आत्मीयता। यदि यह फल नाम जपते-जपते हू प्राप्त नहीं है रह्यौ है तौ निश्चय ही हमारे भीतर कपट छिप्यौ है। कपट कौ अर्थ है कामना। नाम-जप श्रीभगवान् कौ और मनमें कामना संसारकी। तौ जप कौ यथार्थ फल नहीं मिलैगौ। भजन करै श्रीभगवान् कौ और चाहै संसार, यह कैसी विडम्बना है? अपनी प्रसंसा करनौं मृत्यु है। भजन करै, किंतु स्वार्थ न होय। यदि स्वार्थ है, तौ वह तौ भिखारी और व्यापारी ही है। सर्वत्र चराचर जगत्में श्रीभगवत्-भाव दृढ़ करिवेके ताँईं प्रारम्भिक साधन है कि काहू सौं विरोध और घृणा न करै।

उपासना कौ अर्थ है—परमात्मा कौ सानिध्य तथा सम्पर्क। उप-आसना अर्थात् समीप आसन मारि कैं बैठनौं। अपने प्राणधन प्रभू कूँ जाननौं। जानिवे कौ अर्थ यह नहीं कि इनकी भूली विछुरी याद यदा कदा कर लैनौं। जानिवे कौ अर्थ है कि यह निरन्तर तैलधारावत् इनके नाम, रूप और लीलानमें ही डूबे रहनौं। बस एक ही काम है कि इनकूँ अपनौं बनानौं। याही सौ सब सुलभ है जायगौ। कौई दूसरौं चिन्तन ही न हौन पावै। यही साधन है। यही प्रेम है, यही कर्तव्य है और यही अपनौं परम-धर्म है।

संतने हमें अपनाय लियौ, यह तव ही मान्यौ जाय है कि, जब ये हम सौं अपने भीतरकी गुप्त सौं गुप्त बात कहबे लगि जायँ।

मा मतिः परदारेषु, परद्रव्येषु मा मतिः।
पराय वादिनी जिह्वा, मा भूज्जन्मनि जन्मनि॥

परस्त्री, परधन और परनिन्दा सौं जानैं अपने आपकूँ, बचाय लियौ है, वाकौ या धरातल पै फिर कबहूँ पुनर्जन्म नहीं होय है, अर्थात् वह आवागमन सौं मुक्त है जाय है।

भजन—साधनके फलस्वरूप श्रीभगवान् यदि कछु जागतिक वस्तु प्रदान करैं, तौ समझि लेय कि, यह कृपा नहीं हैं। ये अपनौं पिण्ड छुडाय रहे हैं। तब ही संसार बढ़तौ जाय रह्यौ है। जब अपने कूँ माँगिवे सौं हू भिक्षा न मिलै, तब समझै कि, अब भई साँची कृपा। सरल और विनीत सौं अपराध बनैं ही नहीं है। अपराध तौ अहंकारी सौं ही बनैं हैं। सबसौं बड़ौ ज्ञान है, श्रीभगवान्में मोह है जानौं। साधनमें आवेश नहीं हौनौं चहिए। याकौ अर्थ यह नहीं कि, भजन कम करै। भजन खूब करै। अधिक सौं अधिक करै। 'मैं इतनौं भजन करूँ हूँ' यह अहंकार नहीं होनौं चहिए। यही समझै कि, मैं का करि सकूँ हूँ। यह जीवनधनकी कृपा है जो कछु कराय रही है। एकमात्र कृपा कौ ही अवलम्ब रहनौं चहिए।

भजनमें चार विघ्न—

१-सुकृत, २-दुष्कृत, ३-अपराध और ४-भक्ति उत्थित अहंकार।

सुकृत—आवै भोग रूपमें।

दुष्कृत—आवै रोग रूपमें।

अपराध—आवै महदवज्ञा, असूया, बड़ेनमें दोष-दर्शन, निन्दा-आलोचना आदिके रूपमें। दोष-दर्शन तौ मन हूँ सौं न करै।

भक्ति उत्थित अहंकार सौं हूँ काहू पै शासन न करै। बड़ेन कूँ तौ करै ही नहीं, छोटेन कूँ हूँ नहीं करै।

श्रीभगवत्-नाम, श्रीभगवत्-धाम और श्रीभगवत्-जन—इन

तीन्यौंनमें सौं यदि एक हू कौ अवलम्ब है जाय, तौ काम बनि जाय। इनमें सौं यदि एक हूमें मन रमि जाय, तौ जीव कौ कल्याण है जाय है और कहूँ तीन्यौंनमें ही मन रमि जाय, तौ फिर तौ कहनौं हीका? श्रीभगवत्परायणकी भूल हूँ कल्याणकारक है जाय है। लक्ष्य दृढ़ होय तौ श्रद्धा, सदाचार स्वत: ही बनते चले जायँ हैं। करने नहीं परैं हैं। जब ताँईं इष्टमें दृढ़ आत्मीयता नहीं बनैं, तब ताँईं मिलन सम्भव नहीं। करनौं है एक काम! वृत्ति, जो सर्वत्र फैलि रही है, याकूँ समेटिकैं इनमें (श्रीप्रियतममें) लगानौं है। (प्रियतममें) लगानौं हैं। बस, याही सौं सब सुलभ है जायगौ।

साधक चार प्रकारके हौयँ हैं—(एक साधकके विचार साधकके ताँईं)

१-तूल, २-तुस, ३-घृत और ४-मधु।

(१) तूल नाम है रूई कौ। कितनौं हू रूई कौ ढेर होय, यदि वामें नैंकहू सलाई लगाय दैं, तौ क्षणनमें ही सब पजरि कैं राख है जाय है। ऐसैं ही विवेकी साधकके हृदयमें कितनी हूँ साधन विरोधी वस्तु एकत्रित क्यौं न है रही हौयँ, यदि नैंक हू सत्संग या महत्कृपाकी आँच लगि जाय, तौ सबकी सब क्षणन-में ही स्वाहाः है जायँ हैं और हृदय तुरंत निर्विकारी और निर्मल है जाय है। ऐसौ साधक तूल कोटि कौ मान्यौं जाय है।

बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं।
फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥

(२) दूसरे हैं तुस कोटिके। तुस नाम हैं भुस कौ। भुस-में यदि आँच लगि जाय, तौ वह बुझै ही नहीं है। भीतर ही भीतर पजरती ही रहै है, सुलगती ही रहै है और साथ ही धूँआँ हूँ चलतौ ही रहै है। यदि वापै पानी डार दियौ जाय, तौ धूँआँ कछु समय कूँ बन्द है जाय है। फिर नैंकहूँ व्यारि चली कि, धूँआँ पुनः चलिवे लगै है। ऐसैं ही साधकके हृदयमें जो अनर्गल वस्तु जमा है गयी है, उनकूँ साधक जब अपने साधन सौं फूँकिवे लगै है, तब भाँति-भाँतिके सद्विचाररूपी धूँआँनके घमण्डके घमण्ड उठते ही रहैं हैं। साधनकी अग्नि ऐसी होय है कि, वह कबहूँ बन्द नहीं होय है। सुलगती ही रहै है। हाँ, कबहूँ-कबहूँ कुसंगरूपी पानी परिजायवे सौं धूँआँ बन्द सौ है जाय है। परंतु नैंकहू सुसंगरूपी ब्यारि लगी कि, फिर सद्विचाररूपी धूँआँकि घमण्डके घमण्डसे उठनौं प्रारम्भ है जायँ हैं और विकाररूपी भुस कूँ राख करिकैं ही छोड़े हैं। ऐसे साधक तुस कोटिके माने जायँ हैं।

(३) तीसरे घृत कोटिके हौयँ हैं। जा वस्तु पै घृत मल दियौ जाय है, वापै पानी अथवा कोई तरल पदार्थ टिकै नहीं हैं। ऐसैं ही जा साधक कौ हृदय श्रीभगवत्-भक्तिरूपी घृत सौं चुपरि गयौ है। वामें संसारी वस्तु, काहू प्रकारकी कामना, वासना नहीं टिक पावैं हैं। आपही दूरि हौंती रहैं हैं। ऐसे साधक घृत कोटिके माने जायँ हैं।

(४) चौथे हैं मधु-जैसे। जा वस्तुमें मधु डार दियौ जाय है। वही स्वादिष्ट है जाय है। ऐसैं ही जा साधक कौ हृदयप्रेमरूपी मधु सौं भर्‍यौ ही रहै है। वाके पास कोई हू पहुँचि जाय, वह सब भीतर बाहर सौं मीठी हैकें ही निकरै है। सबरे सद्गुण सरलता, बिनम्रता बाके पास जायवे वारे पै लिपटि जायँ हैं। कितनौं हूँ कटु स्वभाव बारौ क्यौं न होय, मीठौ ही बनिकैं आवैगौ। ये हैं मधु-कोटिके साधक।

जबतक चित्तकी वृत्ति इष्टमें और श्रीसद्गुरुदेवमें आसक्त नहीं होयगी, तबतक देहाध्यास बन्यौ ही रहैगौ। यदि इन दोऊन-में ममता नहीं भई, तौ संसार और शरीरमें होयगी ही। ममता तौ कहूँ न कहूँ रहैगी ही।

जाके स्मरण करिबे सौं चित्तमें भजन करिवेकी अभिलाषा उत्पन्न होय, प्रभु सौं प्रेम करिवेकी लालसा बनै, वही साँचौ साधु है।

जाके स्मरण मात्रसौं ही मनमें सौं मायाकी अशान्ति दूरि भागि जाय, जिह्वा श्रीभगवत्-नाम रटिवे लगि जाय, चित्त श्रीभगवत्-चिन्तन करिवे लगि जाय और मन अगाध शान्तीके सागरमें डूबि जाय। अपने व्यर्थ बीतते जीवन पै ग्लानि है वे लगि जाय। श्रीभगवान् सौं मिलिवेकी तीव्रतम उत्कण्ठा मनमें घर करि जाय। वही है साँचौ संत।

चाह अन्त:करण कूँ मलीन करै है। अन्त:करण खाली करनौं है। अन्त:करण खाली भयौ कि, प्रेमकी भूख लगी। हृदयमें कोई वासना नहीं रहैगी, तब ही भक्तिमें मन लगैगौ। और तब ही भक्ति कौ साँचौ रस मिलैगौ।

दु:संग सर्वथा त्याज्य है। '**संगं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।**'

कोई पाप करै, बाकूँ देखनौं हूँ पाप है। काहू कौ पाप न देखनौं, न सुननौं और न काहू सौं कहनौं ही।

व्यापक कूँ खेजिवेकी नहीं, अपितु पहँचानिवेकी आवश्यकता है।

जबतक कछु लौकिक व्यवहार करनौं पर है, तबतक मन स्थिर नहीं है सकै।

जा साधक कौ मन निरन्तर अपने इष्टमें ही जुट्यौ रहै है। बाकूँ और काऊ सदग्रन्थकी जानकारी करिवेकी आवश्यकता नायँ। यदि जानकारी है, तौ उत्तम और यदि नहीं है, तौ हू उत्तम। **[क्रमशः]**

भक्ति-साधनामें स्तुति-वन्दना*

भावपूर्ण विवेचन (प्रस्तावना)

(पं० श्रीगजाननजी शर्मा)

परमात्मा शाश्वत, सनातन और चिरंतन तत्त्व है। वह सृष्टिके पूर्व भी था, सृष्टिके आरम्भमें भी था और सृष्टिकी स्थितिमें भी संस्थित है। सृष्टिके अन्तमें भी रहेगा और सृष्टिके अभावमें भी उसकी स्थिति बनी रहेगी। इस प्रकार उसकी सत्ता त्रिकालाबाधित तथा अविनश्वर है। उसीकी मायाशक्तिके वशमें सम्पूर्ण विश्व संचालित हो रहा है। ब्रह्मादि देवगण, दैवी शक्तियाँ उसीके निर्देश और नियन्त्रणमें अपने दायित्वोंका सम्पादन कर रहे हैं। वह जगत्के समस्त कारणोंका मूल कारण है, किंतु उसका कोई कारण नहीं, वह समस्त कारणोंसे परे है। हमारी वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा मन उस विराट्, अनन्त सत्तातक पहुँचनेमें असमर्थ हैं। फिर उसका वर्णन तो असम्भव ही है। वहाँ वाणी मौन और भाषा विवश-असहाय-नि:शब्द हो जाती है। वेदकी अपौरुषेय वाणी 'नेति-नेति' कहकर उसकी इन्द्रियबोधातीत स्थितिका संकेत करती है। वेद '**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह**' कहकर मन-वाणी आदिकी असमर्थता और सीमाका निर्देश करते हैं। महामति व्यासजीकी समाधि भाषाभागवत विनम्रभावसे स्वीकार करती है कि पृथ्वीके रजकण गिन पाना कदाचित् सम्भव हो सकता है, किंतु परमात्माके गुणोंकी गणना कदापि सम्भव नहीं है। प्रभु-चरणोंमें अपने जीवन और अहंको समर्पित (विसर्जित)-कर देनेवाले संत भी यही कहते हैं कि सम्पूर्ण पृथ्वीको कागज बना दिया जाये, सातों महासागरोंकी स्याही बना ली जाये, समस्त वनस्पतियोंकी कलम बना ली जाये तो भी भगवान्के गुणोंका लिख पाना सम्भव नहीं है। उस महा-महिमा-सम्पन्न विराट्के सम्मुख मानव-बुद्धिकी बिसात ही क्या है? '***महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी॥***'

जिसकी सत्तासे हमारी सत्ता है, जिसकी चिन्मयता हमारी चेतनाका मूल है, जिस असीम-अगाध (अथाह) आनन्दके एक कणमात्रसे विश्वके समस्त प्राणी सुख और आनन्दकी अनुभूति करते हैं—'***जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥***' है, उस महामहिमावान् प्रभुके सम्मुख अपनी विवश, नगण्य स्थितिका अनुभव करनेके उपरान्त भी ज्ञानी और भक्तजन उसका गुणगान किये बिना रह ही नहीं पाते—'***सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥***' जबसे मनुष्यने बोलना सीखा है, जबसे उसने भाषाको अपनी अभिव्यक्तिका आधार बनाया है, तबसे वह उस विराट् व्यापक-अनन्त-अखण्ड परमसत्ताके सौन्दर्य-शक्ति-गुण-रूप-नाम-लीलाको हर्षविभोर होकर, अपनी अटपटी वाणीमें गाकर शान्ति और आनन्द पाता रहा है, वाणीको सार्थक करता रहा है। परमसत्ताके प्रति हर्ष, विनय, विनम्रता, पुकार, महिमागान, आत्मनिवेदन, क्षमा-भावना, आश्चर्य आदि भावोंसे भरी हुई सहज स्फुट होनेवाली उक्तियाँ ही स्तुति बन जाती हैं।

ऋग्वेद क्रान्तद्रष्टा मनीषियोंके हृदयसे उद्भूत स्तुतियाँ हैं। संस्कृत वाङ्मयमें स्तुति (स्तोत्र) साहित्यका समृद्ध भण्डार है। श्रीमद्भागवत तो स्तुतियोंका सागर ही है। भागवतकारको जहाँ भी और जब भी अवसर मिलता है, तब वह किसी-न-किसी पात्रके माध्यमसे भगवान्के किसी-न-किसी स्वरूपकी स्तुति करने लगता है। भागवतकारका कथन है कि महाप्रज्ञ महापुरुषोंके अनुसार तप, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्यभाषण, ज्ञानसाधना, दान आदि समस्त सत्कर्मोंका अक्षय फल यही है कि हममें भगवद्गुणगानकी रुचि, प्रवृत्ति और क्षमता आये। भागवतमें एक विद्वान्के अनुसार छोटी-बड़ी एक सौ चालीस स्तुतियाँ हैं। अध्यात्मरामायणमें भी स्तुतियोंका भण्डार है। इन स्तुतियोंमें गहन दार्शनिक तत्त्वोंका भी सुन्दर समावेश है।

* श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामजीकी स्तुतियोंका एक संकलन—'रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि' शीर्षकसे श्रीश्यामसुन्दरजी झँवरद्वारा संकलनकर प्रकाशित की गयी है। जिसकी प्रस्तावनामें यह लेख लेखक महोदयने प्रस्तुत किया है।

तुलसीकृत श्रीरामचरितमानसपर भी श्रीमद्भागवत और अध्यात्मरामायणका गहरा प्रभाव है। श्रीरामचरितमानसका आरम्भ वन्दना (स्तुति)-से ही होता है। वन्दना भी स्तुतिका एक रूप है। बालकाण्डका बहुत बड़ा भाग वन्दनात्मक स्तुतियोंसे समृद्ध है। मानसके प्रत्येक काण्डका आरम्भ संस्कृत-स्तुतिसे ही हुआ है। जहाँ और जब भी अवसर मिला है, तुलसीदासजीने विभिन्न पात्रोंसे स्तुतियाँ करवायी हैं। हिन्दीके भक्ति-साहित्यमें भी विपुल स्तुतियाँ उपलब्ध हैं। स्वयं तुलसीदासजीकी विनय-पत्रिकामें अनेक, विविध, भावात्मक तथा प्रभावपूर्ण स्तुतियाँ हैं।

स्तुति भगवद्-भक्तिका प्रमुख अंग है। श्रीशङ्कराचार्य-जैसे महान् दार्शनिकने भी अनेक मधुर एवं भावप्रवण स्तुतियाँ रची हैं। भगवान्‌की सर्वसमर्थता, कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तुम् क्षमता और अपनी असमर्थता, भगवान्‌की असीम, अकल्पनीय शक्तिमत्ता और अपनी अत्यन्त शक्तिहीनता, भगवान्‌के असंख्य अलौकिक, अद्भुत गुण-गण और अपनी कल्मषपरता, दोषमयता देखकर भक्त यदि गा उठे—

'राम सों बड़ो है कौन मो सों कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन मो सों कौन खोटो॥'

तो यह भक्तका घिघियाना या उसकी हीनताका द्योतक नहीं है, वह विराट् सत्ताकी महिमाके सम्मुख विनय एवं समर्पणशील आत्माका सहज निवेदन है। इससे भक्तको सुख, संतोष और शान्ति मिलती है। शिवभक्त उपमन्युने शिवस्तवनमें कहा है—'हे प्रभो! आपकी सतत स्मृति परम पवित्र और पतित-पावनी है, लेकिन उस स्मृतिमें यदि स्तुतिका योग हो जाय तो कहना ही क्या है! उसकी महिमा तो बतायी नहीं जा सकती है। जैसे, दूध तो स्वभावसे ही मधुर होता है, यदि उसमें मिसरी या शक्कर घोल दी जाये तो उसके स्वादमें जो माधुर्य बढ़ जाता है, वह तो अवर्णनीय ही है'—

'त्वदनुस्मृतिरेव पावनी स्तुतियुक्ता न हि वक्तुमीश सा।
मधुरं हि पयः स्वभावतो ननु कीदृक् सितशर्करान्वितम्॥'

वैधी-भक्तिमें मन्त्र एवं कियाएँ प्रधान होती हैं। जब वैधी-भक्ति परम प्रेममय, दिव्यानुरक्तिसे सम्पन्न भावप्रवण स्तुतिसे युक्त हो जाती है, तो धीरे-धीरे भक्तको प्रेमलक्षणा-भक्ति प्राप्त होने लगती है। इसलिये भक्तिके साधनोंमें स्तुति-गानको एक प्रमुख और अनिवार्य साधनके रूपमें श्रीमद्भागवतमें स्वीकार किया गया है—'**परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम।**' व्रजाङ्गनाओंने प्रभुके अन्तर्धान होनेपर हृदयकी गहराईसे अनुभव किया था कि भक्त कवियोंके द्वारा किया गया प्रभुका गुणगान, उनकी स्तुतियाँ तो अमृतरूप हैं, वे त्रिताप-संतप्त जीवोंको नवजीवन प्रदान करती हैं, जीवनका आधार—सम्बल बनती हैं। प्रभुका स्तुत्यात्मक गुणगान सभी रोग-दोष, पापोंको नष्ट कर देता है। प्रभुके गुणोंका गान सुनना ही मङ्गलकारी है, वह श्रवणमङ्गल है। जो स्तुतियोंके द्वारा प्रभुका गुणगान करते हैं, वे जगत्‌में सबसे बड़े दाता हैं; क्योंकि वे अमृतका दान करते हैं—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

गोपिकाओंने स्तुतिगान किया, प्रभुके दर्शनोंकी लालसासे उनकी लीलाएँ गाते हुए वे अश्रु बहाने लगीं, तब प्रभु अदृश्य नहीं रह पाये और मन्द-मन्द मुस्काते हुए उन्हें प्रकट होना ही पड़ा। ऐसी अद्भुत शक्ति है स्तुतिमें। तुलसीदासजीद्वारा रचित श्रीरामचरितमानसकी स्तुतियाँ भी ऐसी ही उत्कृष्ट कोटिकी हैं। उन्हें गाते हुए भक्तगण देहानुसन्धान भूल जाते हैं और भगवद्भाव-विभोर हो जाते हैं। देश-काल-पात्र आदिका व्यवधान विस्मृत हो जाता है। स्तुतियोंका गायक उन स्तुतियोंमें अपनी ही भावनाओंकी अभिव्यक्तिका अनुभव करने लगता है। तब भाव-समाधि-जैसी स्थिति हो जाती है।

सामान्यतः स्तुतियोंमें परमात्माके नामकी महिमा, उनके रूप-सौन्दर्यका चित्रण, उनके दिव्य गुणोंका गान, उनकी भक्तोंके रंजन और रक्षणके लिये की गयी अलौकिक लीलाओंका भावपूर्ण वर्णन, प्रभु-प्राप्तिके उपायोंका निर्देश, भक्त-हृदयकी आकांक्षा आदिका समावेश होता है। अनेक स्थलोंपर भक्तिके सिद्धान्तों और दार्शनिक रहस्योंका संकेत भी मिलता है। स्तुतिकर्ताके जीवनसे भी स्तुतिका गहरा सम्बन्ध होता है, उसके जीवन और मानसकी पृष्ठभूमिमें स्तुतिका प्राकट्य होता है। इस प्रकार स्तुतियोंमें निज-

भावभूमिकी झलक भी मिलती है। अहल्याद्वारा की गयी स्तुतिमें नारी-जीवनकी विवशता, शबरीकी स्तुतिमें अतिशय भाव-प्रवणता, बालीमें तार्किकता, परशुराममें क्षमा-याचनाका भाव, वाल्मीकिमें शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी सार-ग्राहकता आदि सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। इससे स्तुतियोंमें प्रसूत वैविध्य और वैशिष्ट्य भी दर्शनीय है। तुलसीकृत स्तुतियोंमें युगीन स्थितियोंकी छाया भी स्पष्ट है, यह तथ्य उनके द्वारा रचित स्तुतियोंका अध्यात्मरामायण और श्रीमद्भागवतमें उपलब्ध स्तुतियोंसे तुलनात्मक अध्ययन करनेपर स्पष्ट हो जाता है।

श्रीरामचरितमानसकी स्तुतियोंमें भगवान्‌के सुन्दर स्वरूप-निरूपणकी विपुलता है। तुलसीदासको प्रभुके निर्गुण और सगुण दोनों ही स्वरूप सिद्धान्ततः सहज स्वीकार हैं—

'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।' (जटायु)

'जय निर्गुन जय जय गुन सागर।' (सनकादि मुनि)

'जय सगुन निर्गुन रूप' (चारों वेद)

'अगुन सगुन गुन मंदिर सुंदर।' (शंभु)

जब तुलसीदास रामके निर्गुण स्वरूपका वर्णन करते हैं, तब वे उन्हें निर्गुण, निर्विकार, निरुपाधि, अनीह, अरूप, अनाम, केवल तुरीय, सच्चिदानन्द, विशुद्ध, बोधविग्रह, निजानन्दके रूपमें निरूपित करते हैं। भगवान्‌के इस स्वरूपको निर्गुण स्वरूप, इन्द्रियातीत, अगोचर, अविगत, अकथ, गिरा-ज्ञान-गोतीत, मन-बुद्धिसे परे कहा है। परमात्माके अज, अद्वैत, अनादि, अनन्त, अपार और अनुभवगम्य स्वरूपकी ओर तुलसीदासने अनेक स्तुतियोंमें बारम्बार संकेत किया है। परमतत्त्वके इस स्वरूपकी वे उपेक्षा नहीं करते, उसकी इन्द्रियातीत, अविगत, अकथ स्थितिको बराबर रेखांकित करते रहते हैं।

तुलसीदास श्रीरामके सगुण रूपका वर्णन करनेमें तन्मय हो जाते हैं। उनके राम अनन्त सौन्दर्य, अपार शक्ति और अनुपम शील-समन्वित पुरुषोत्तम हैं। वे श्रुति-सेतुपालक, धर्मरक्षक और सद्धर्मके कवचरूप हैं, सब गुणोंके आगार हैं। तुलसीदास प्रभुके करुणायतन, कृपालु, कृपासिन्धु, करुणा-सुख-सागर, सुखधामरूपका बारम्बार स्मरण करते हुए अघाते नहीं हैं। उनका विश्वास है कि प्रभु केवल दयालु ही नहीं, अपितु कारणरहित दयालु हैं। वे सबके प्रति समदृष्टि रखते हैं, सम हैं, सहज उदार हैं, फिर भी जनरंजन और भक्त-कल्पतरु हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ।

भक्तोंको वे अपार आनन्द देते हैं तथा उनकी कामनाएँ पूरी करते हैं। लेकिन भक्त भी ऐसे हैं कि वे प्रभुसे उनकी भक्ति और कामादि दोषरहित मानसकी ही आकांक्षा रखते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।

—वाल्मीकि

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥

—हनुमान्

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

—तुलसीदास-सुन्दरकाण्ड

प्रभु भक्तोंसे केवल प्रेम चाहते हैं—*'रामहि केवल प्रेमु पिआरा',* वे भावग्राहक हैं और भावसे ही वशमें हो जाते हैं, भाववश्य प्रभु।

सैद्धान्तिक रूपसे तुलसीदासजी ब्रह्मके, रामके निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंको स्वीकार करते हैं; लेकिन उन्हें प्रभुका सगुण रूप ही भाता है, जब भी वे अवसर पाते हैं, तभी विभिन्न पात्रोंके माध्यमसे भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपके प्रति विशेष रुचि प्रकट करना नहीं चूकते हैं—

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अब्यक्त जेहि श्रुति गाव॥
मोहि भाव कोसल भूप। श्रीराम सगुन सरूप॥

—इन्द्र

मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम॥

—शरभंग

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदय निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥
जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥
जो कोसल पति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥

—सुतीक्ष्ण

निर्गुणका सगुण-साकाररूप धारण करना एक अबूझ पहेली है। बड़े-बड़े ज्ञानी, मननशील मुनि भी इसे सुलझानेमें उलझ जाते हैं। वे यह समझ नहीं पाते कि

निर्गुण, सर्वव्यापी सत्ता सगुण-साकार होकर अनेक प्रकारके चरित क्यों और कैसे करती है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

माता कौसल्या भी प्रभुके प्राकट्यके समय कहती हैं कि जिस परब्रह्मके रोम-रोममें असंख्य ब्रह्माण्डोंके समूह विद्यमान हैं, वह मेरे उरमें आकर बसा, वह जन-अनुरागी भक्तवत्सल प्रभु मेरे कल्याणके लिये साक्षात् श्रीविग्रह धारणकर प्रकट हुआ, यह एक अद्भुत रहस्य है। इसे समझनेके प्रयासमें बड़े-बड़े धैर्यवान् बुद्धिमानोंकी मति भी स्थिर नहीं रहती, भ्रमित हो जाती है—

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

भगवान्‌के भूतलपर अवतरित होनेके अनेक कारण हैं और वे *'परम बिचित्र एक तें एका'* हैं। इसके कुछ सामान्य कारण इस प्रकार हैं—एक कारण तो गीताने बतलाया है, जिसे तुलसीदासजी भी स्वीकार करते हैं कि जगत्‌में जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है, उसका निरन्तर ह्रास होने लगता है, जब महा-अभिमानी आसुरी प्रवृत्तियोंकी बाढ़ आ जाती है, तब-तब प्रभु अवतरित होते हैं और दैवी प्रवृत्तिवाले संतों, सज्जनोंकी पीड़ा दूर करते हैं—*'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* स्वाध्याय-तप-परायण ब्राह्मण, सर्वदेवमयी गौ, दैवी प्रवृत्तिके प्रतिनिधि देवगण और भगवत्परायण संतोंकी रक्षाके लिये परमात्मा मनुष्यरूपमें अवतार लेते हैं—

'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'
'नर तनु धरेहु संत सुर काजा।'

प्रभुके अवतार लेनेमें उनकी भक्त-वत्सलता मुख्य कारण है—

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

जो परमात्मा इन्द्रियातीत हैं, जो मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे परे हैं, जो माया और मायाके तीनों गुणोंसे भी परे हैं, जो अजन्मा हैं, वे ही सच्चिदानन्दघन प्रभु रामके रूपमें अवतरित होते हैं। निर्गुण निराकार सच्चिदानन्द परब्रह्म और सगुण साकार श्रीराम तात्त्विक रूपसे एक ही हैं—

ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार॥

प्रभु जब सगुण-साकार रूप ग्रहण करते हैं तब वे जो शरीर धारण करते हैं, उसके अनुरूप इतना कुशल नाट्य करते हैं कि लोग उनके वास्तविक स्वरूपको जान ही नहीं पाते। अभिनेताके अभिनयकी सफलता इसीमें है कि वह अभिनेय पात्रके रूपमें ही प्रतीत हो—*'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥'* प्रभुके नाट्यको देखकर जड़बुद्धि मोहमें पड़ जाते हैं, लेकिन जो तत्त्ववेत्ता हैं, वे इस कुशल नाट्यको, लीलाको निरखकर प्रसन्न होते हैं—*'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥'*

जब प्रभु प्राकृत नरोंके अनुरूप पावन चरित करते हैं, तब भी वे प्राकृत नहीं हो जाते। उस समय भी उनकी देह चिन्मय और आनन्दमय ही होती है। उन्हें माया या प्रकृतिके विकार स्पर्श नहीं कर पाते—उनका शरीर धारण करना प्रकृतिके वश नहीं होता। वे तो निज-इच्छासे शरीर निर्मित कर लेते हैं, जो कि माया या त्रिगुणोंसे परे ही होता है। वस्तुतः वे सदा अविकारी ही रहते हैं—

'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥'
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

अवतार-दशामें प्रभु सदा शुद्ध, निर्विकार, सच्चिदानन्द ही रहते हैं, वे प्राकृत मनुष्य आदि नहीं होते। तुलसीदासजीने इस तथ्यको नटके उदाहरणसे समझाया है—

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥

इस रहस्यको न समझ पानेके कारण सतीदेवीको भी कष्ट उठाना पड़ा था। सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानसमें अनेक प्रकारसे निर्गुणके सगुण होने और कुशल नाट्य करनेके रहस्यको समझाया गया है। मानसकी स्तुतियोंमें भी अनेक स्थलोंपर इस रहस्यकी ओर संकेत हैं।

परमात्म-तत्त्वके रहस्यको जान पाना मनुष्यके वशकी बात नहीं। उपनिषदोंके ऋषि भी कहते हैं कि प्रभु जिनका वरण कर लेते हैं, जिनपर कृपा करते हैं, उनके सम्मुख

अपना स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं—**'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (कठ० १। २। २३, मुण्डक० ३। २। ३)। तुलसीदासजीने भी महर्षि वाल्मीकिके द्वारा इसी वैदिक रहस्यका उद्घाटन करवाया है कि श्रीरामका स्वरूप वाणी आदि इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे परे है, अतः उस अविगत, अकथ स्वरूपके लिये वेद 'नेति-नेति' कहते हैं। वे इस दृश्य जगत्के द्रष्टा हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर आदि देव भी उनके मर्मको नहीं जानते। वे तो उनके इशारेपर नाचते रहते हैं। जब ये त्रिदेव भी प्रभुके मर्मको जान नहीं पाते, तब और कौन जान सकता है? उन्हें तो वही जान पाता है, जिसे प्रभु स्वयं ही कृपापूर्वक अपना मर्म ज्ञात करवा देते हैं और उनका स्वरूप जानकर वह उनका ही रूप हो जाता है। यह सब केवल प्रभुकी कृपासे ही सम्भव है—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥
जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

परमसत्ता यदि तटस्थ और निरपेक्ष तत्त्व ही हो तो अध्यात्म-साधनाका रस ही समाप्त हो जाये। परमात्मा केवल पूर्णतः तटस्थ न्यायाधीश ही हो तो उसके प्रति परानुरक्ति, परमप्रेम, सर्वोत्कृष्ट स्नेहरूपा भक्तिका कोई प्रयोजन ही न रहे। परमानन्दका विषय तो यह है कि वह परम निरपेक्ष होकर भी परम भावमय, रसस्वरूप है। वह कर्माध्यक्ष होते हुए भी परम प्रेममय, भावग्राहक और भाववश्य है। वह सर्वत्र सम और तटस्थ होकर भी भक्तवत्सल है। इसीलिये तो भक्त उसे पानेके लिये लालायित रहता है। इतना ही नहीं, भक्त उसके भरोसे निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व हो जाता है। प्रभु उसकी सुरक्षा और परिपोषण ममतामयी माँके समान करते हैं—

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

प्रभुका यह स्वभाव और सहज रीति ही है कि वे समर्पित भक्तोंपर अतिशय प्रेम करते हैं—

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥

प्रभु-प्राप्तिके शास्त्रोंमें अनेक मार्ग हैं। अनेक मनीषियोंने पृथक्-पृथक् साधना-पद्धतियाँ और उपाय भी दिखाये हैं। योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत, नियम आदि असंख्य मार्ग हैं; लेकिन रामकी कृपा-प्राप्तिका सबसे सरल, सहज, सुखद, सुलभ और सुनिश्चित मार्ग निष्केवल प्रेमका मार्ग ही है। सहज, सम्पूर्ण और निःस्वार्थ प्रेमीपर परमात्माकी कृपा होती ही है, इस विषयमें संदेहकी कोई गुंजाइश नहीं है—

'उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥'
'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥'
'जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥'

प्रभु-प्रेमका राजमार्ग सभीके लिये खुला है। यहाँ जाति, लिङ्ग, वर्ग, वर्ण या किसी भी आधारपर न तो भेद है और न निषेध है। शर्त एक ही है कि प्रेम सहज, निष्कपट होना चाहिये और सब रूपोंमें प्रभुको ही देखना तथा सभी भावोंसे प्रभुसे ही प्रेम होना चाहिये—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

तुलसीदासजीने तो श्रीरामचरितमानससे अन्तिम रूपमें यह अमिट सिद्धान्त घोषित कर दिया है कि चाहे पानी मथनेसे घी मिल जाये, चाहे बालूसे तेल निकलना सम्भव हो, लेकिन परमात्माके प्रति प्रेमपूर्ण समर्पण और भजनके बिना भव-जलधिसे पार उतरना सम्भव नहीं है—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

इसी कारण श्रीरामचरितमानसमें साधक, ऋषि, मुनि, सिद्ध, भक्त, देव, महादेव सभी एक स्वरसे परम प्रेमरूपा, परम अनुरागमयी, अमृतस्वरूपा, परम फलरूपा, अविरल, अनपायनी भक्ति ही माँगते हैं। सभीकी स्तुतियाँ इस परम ध्येयमें निष्पन्न होती हैं—

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
—जटायु

पदाब्ज भक्ति देहि मे॥ —अत्रि

करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

—चारों वेद

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

—शिवजी

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

—सनकादि मुनि

भगवान्‌की प्रेमा-भक्ति अन्य साधनोंसे प्राप्य नहीं है। यह दुर्लभ परम प्रेमस्वरूपा भक्ति तो प्रभुकी कृपासे ही किसी बड़भागीको प्राप्य है। अत: मानसमें विभिन्न भाग्यवान् महानुभावोंने कृपासिन्धु प्रभुसे ही उनकी अखण्ड, अविच्छिन्न, अमिट, सुदृढ़ भक्तिकी याचना की है। वास्तवमें वे परम भाग्यवान् हैं, वे ही परम बुद्धिमान् हैं, जो जीवनमें प्रभुभक्तिकी ही कामना करते हैं। भक्त-कल्पतरु-प्रभुकी भक्ति ही सब सुखोंकी खानि है। मानसके प्रवक्ता महाभाग काकभुसुण्डीजी यही याचना करते हैं। यही याचना मानवमात्रकी भी होनी चाहिये—

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

—काकभुसुण्डी

समस्त वेद-शास्त्रोंका सार एवं सुनिश्चित सिद्धान्त यही है कि अनन्यभाव एकाग्रमना होकर श्रीरामसे प्रेम करें, उन्हें ही भजें—

श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥

जीवनमें सहज धर्मनिष्ठा होना उत्तम है, विरक्त होना भूषण-स्वरूप है, ज्ञानी बनना उच्च उपलब्धि है, जीवन्मुक्त होना चरितार्थता है और ब्रह्मपरायण होना धन्यता है; लेकिन इन सभीसे बढ़कर सबसे उत्तम और दुर्लभ परम सौभाग्य है—अहंकारशून्य होकर निष्कपटभावसे प्रभु-प्रेममें तन्मय और तल्लीन रहना—

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

भक्तिकी प्राप्ति प्रेमपूर्वक भगवान्‌की स्तुति करनेसे होती है। कलियुगमें तो इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नहीं—

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

वेदोंमें राजनीतिके कुछ सूत्र

(श्रीनाथूरामजी गुप्त)

त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन् पुरो वज्रिन् पुरुकुत्साय दर्दः।
बर्हिर्न यत् सुदासे वृथा वर्गंहो राजन् वरिवः पूरवे कः॥

(ऋग्वेद १।६३।७)

हे उत्तम शास्त्रोंसे युक्त राजन्! प्रकाशवान् विजय देनेवाले सभाके अधिपते! जो आप सभा, सभासद्, सभापति, सेना, सेनापति, भृत्य और प्रजा—इन सातोंके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करते हैं, इसीलिये युद्धमें आप उन शत्रुओंके नगरोंका विदारण (या विजित) करते हैं। जो आप प्राप्त होने योग्य, राज्यके मनुष्योंको पूर्ण सुखी करनेके लिये उपयोगकी वस्तुएँ या सेवन करने योग्य पदार्थोंके दान करनेवाले मनुष्योंको अन्तरिक्षके समान सभी स्थानोंपर फैला देते हैं तथा व्यर्थ काम करनेवाले (जिन कार्योंका राष्ट्रके लिये कोई उपयोग न हो) मनुष्योंको वर्जित करते हैं (वैसा करनेसे रोकते हो), इस कारण आप हम सब लोगोंके सत्कार करने योग्य हैं।

तमप्सन्त शवस उत्सवेषु नरो नरमवसे तं धनाय।
सो अन्धे चित् तमसि ज्योतिर्विदन् मरुत्वान् नो भवत्विन्द्र ऊती॥

(ऋग्वेद १।१००।८)

हे मनुष्यो! तुममें जो व्यक्ति सब कार्योंको व्यवस्थित रूपसे संचालनकी निपुणता, विद्याबल तथा धनादि अनेक

बलोंवाला हो, वह भी उत्सव तथा आनन्दके अन्य अवसरोंपर प्रबल युद्ध करनेवाले शत्रुसे युद्ध करनेवाले सेनापतिको सत्कार दे—सम्मानित करे। वह उत्तम वीरोंको रखनेवाले सेनापतिसे हमें रक्षा तथा प्रकाश उसी प्रकार प्राप्त कराये, जैसे अन्धकारको नष्ट करके सूर्य प्रकाश देता है। इस मन्त्रमें बल दिया गया है कि धनवान्, विद्वान् तथा अन्य प्रकारसे सम्पन्न व्यक्ति भी अपने अभिमानमें न रहकर राष्ट्ररक्षक सेनापतिका तथा सेनाका सार्वजनिक स्थलोंपर सम्मान करे, उन्हें अभिनन्दित करे।

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तंतमिद्धतम्। दूरे चत्ताय च्छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः॥

(ऋग्वेद १। १३२। ६)

हे पहले भी युद्ध किये हुए सूर्य और मेघके समान वर्तमान सभा एवं सेनाधीशो! जो (शत्रु) हम लोगोंकी सेनापर आक्रमण करे, सबसे आगे जाकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे तुम दोनों उसको मारो, दण्ड दो। यदि वह शत्रु वनमें या संकटमें चला जाय तो दूर चले गये शत्रुको भी पकड़ो। हे शूरवीर! हमारे शत्रुओंको सब तरफसे बेधता हुआ छिन्न-भिन्न कर डालो। युद्धका निमन्त्रण देनेवालेको सम्यक् उत्तर दो। जो शत्रुओंकी सेनामें (जासूसी-हेतु) व्याप्त हो उसकी तुम निरन्तर रक्षा करो।

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे। ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती। मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनो ऽर्यमा यातयज्जनः॥

(ऋग्वेद १ १३६। ३)

जैसे सूर्य और वायु सम्पूर्ण द्युलोकमें अपनी आकर्षण-शक्तिद्वारा पृथ्वीको धारण करते हैं, उसी प्रकार शुभ प्रयत्न करनेवाले मनुष्य, श्रेष्ठ न्यायाधीश, पुरुषार्थवान् सेनाधीश तथा दानकी पालना करनेवाले सभाध्यक्षके प्रभावसे समस्त प्रजाजन न्याययुक्त अत्यन्त सुखको प्राप्त होते हैं।

सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून्। त्यं चिच्छर्धन्तं तविषीयमाणमिन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्॥

(ऋग्वेद २। ३०। ८)

जिस प्रकार विद्युत् या वायु बरसनेवाले मेघपर आघात करता है, हे प्रशंसित रूपवान् विज्ञानयुक्त विदुषी रानी! हे प्रगल्भ उत्साहनी! आप-जैसी सेनानायिका जिस प्रकार सेना शत्रुसैन्यके बली वीरोंको मारती है, उसी प्रकार हमारे सुखको नष्ट करनेवाले शत्रुओंको जीतती हो। इससे हम सबके सम्मान करने योग्य हो।

इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः। विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥

(ऋग्वेद ३। ५३। ७)

हे राजन्! जैसे प्राणवायु शरीरका पालन करती है, उसी प्रकार जो जनताके पालनेमें तत्पर, युद्ध-विद्यामें पूर्ण निपुण, वायुके समान शक्तिशाली असुरों, शत्रुओंके हननकर्ता, असंख्य धनैश्वर्यके उत्पन्नकर्ता, सम्पूर्ण संसारके मित्र हैं, जो अतिश्रेष्ठ धनोंको समाज-हितके लिये देते हुए मनुष्यके सामान्य स्वभाव (केवल परिवारतक ही अपनत्व रखनेवाला स्वभाव)-का उल्लंघन करते हैं, वे ही लोग आपसे सत्कारपूर्वक रक्षा पाने योग्य हैं।

त्वा युजा नि खिदत् सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो। अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायुधायि॥

(ऋग्वेद ४। २८। २)

हे चन्द्रके समान कान्तियुक्त प्रजाजन! विद्युत् जिस भाँति जलकी सहायतासे सूर्यके ज्योतिमण्डलको तेजोहीन बना देता है, उसी प्रकार आपका राजा आप प्रजाजनकी सहायतासे सूर्यके तुल्य शत्रु राजाके राज्यचक्रको कान्तिहीन करता है। शत्रुओंको नाश करनेवाला आपका राजा शत्रुओंको वृक्षोंकी भाँति कँपाता हुआ अपने शत्रु-विजयी सैन्य-बलसे अतिशीघ्र बिलकुल दीन-हीन कर सकता है तथा द्रोही शत्रुके कार्यकारीके रूपमें उपस्थित बड़े जीवन सामर्थ्ययुक्त, सर्वत्रगामी बलके भी निराकरणमें समर्थ होता है।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य ग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥

(ऋग्वेद ५। ४६। ८)

देवसमान विद्वानोंकी विदुषी स्त्रियाँ न्याय करने-हेतु अत्यन्त धनैश्वर्यवान् पुरुषों तथा अग्निके सदृश तेजस्वी वीर पुरुषोंकी स्त्रियोंकी बात सुनें तथा विचारकर न्याय करें।

उपदेशक श्रेष्ठजनोंकी स्त्रियाँ तथा अन्य विद्यायुक्त स्त्रियाँ ऋतु-ऋतुमें उत्पन्न करने (अर्थात् ऋतु-अनुसार उत्पादनहेतु कृषि-कार्यमें लगी)-वाली स्त्रियोंकी बात सुन न्याय करें।

अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनां यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र।
नि पर्वता अद्मसदो न सेदुस्त्वया दृळ्हानि सुक्रतो रजांसि॥

(ऋग्वेद ६। ३०। ३)

हे श्रेष्ठ कर्मोंको उत्तम प्रकार जाननेवाले सूर्यके समान तेजस्वी राजन्! जैसे सूर्य भूमिका आकर्षण करता, आकर्षणद्वारा नदियोंसे प्राप्त जलको बरसाता है, इसी प्रकार प्रजाद्वारा प्राप्त धनको आप उसीके हितार्थ बरसावें (उपयोग करें), जैसे सूर्य अपनी परिधिके लोकोंको धारण करता है, आपके धारण सामर्थ्यमें रक्षक, प्रजा तथा राजाजन स्थित होते हैं।

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे।
निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः॥

(ऋग्वेद ७। ६८। ७)

हे राज्यपुरुषो! तुम उस भोक्ता सम्राट्को मित्रताकी दृष्टिसे देखो, जो एक स्थानमें रहनेरूपी दुःखरूप वासको त्यागकर समुद्रके मध्यमें गमन करता है (अर्थात् जो समुद्रादिकी यात्रा कर दूसरे देशोंसे धनैश्वर्य तथा अन्यान्य सामग्री जनताके हितार्थ अर्जित कर जनताको सुखी-सम्पन्न करता है) और जो तुम लोगोंके निरन्तर उत्तम आचरणकी शिक्षा दे, तुम्हारी बाधाओंको दूरकर तुम्हारी रक्षा करता है।

शश्वन्तं हि प्रचेतसः प्रतियन्तं चिदेनसः।
देवाः कृणुथ जीवसे॥

(ऋग्वेद ८। ६७। १७)

हे ज्ञानेश्वर! हे उदारचेता! हे सुयोद्धा विद्वानो! उन पुरुषोंकी जो अपराध और पाप करनेके सदा अभ्यासी हो गये हैं, परंतु उन पापोंको करके पश्चात्तापपूर्वक आपकी शरणमें आ रहे हैं, उन्हें वास्तविक मानव-जीवन प्राप्त करानेहेतु सुशिक्षित और सदाचारी बनानेका प्रयत्न कीजिये, ऐसी आपसे प्रार्थना है।

वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये।
अन्ति षद्भूतु वामवः॥

(ऋग्वेद ८। ७३। ८)

हे अश्विद्वय राजा और अमात्य! आप दोनों मनोहर सुवचन बोलते मातृपितृभ्रातृविहीन (अनाथ) शिशु-समुदायको तपानेवाले भूख, प्यास आदि अग्निज्वालाका निवारण कीजिये। आपके राज्यमें यह महान् कार्य साधनीय (करणीय) है।

अस्मिन्त्स्वेतच्छकपूत एनो हिते मित्रे निगतान् हन्ति वीरान्।
अवोर्वा यद्धात् तनूष्ववः प्रियासु यज्ञियास्वर्वा॥

(ऋग्वेद १०। १३२। ५)

इस शक्तिमान् पुरुष, हितकारक मित्र तथा सर्वप्रिय राजाका लघु पाप (दुर्गुण या बुराई) भी नीचे विद्यमान वीरों, मित्रों तथा प्रजाओंको प्राप्त होता है, उनमें भी व्याप्त हो जाता है और उनका नाश करता है। इसी भाँति इनके जो रक्षण, सहयोग, प्रेम-पालन तथा ज्ञानादि गुण होते हैं, वे सत्संग करनेवाले मित्रों तथा प्रिय प्रजाओंमें भी चले जाते हैं, उन्हें भी प्राप्त होते हैं।

उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत।
न गायत्रं गीयमानम्॥

(सामवेद पूर्वाचिक २०। १२। ३)

ज्ञानी राजाको योग्य है कि स्पष्टवक्ता (आलोचक)-के कथनको समझे, उसे अवश्य समझे (अर्थात् उसके कथनपर अवश्य विचार करे)। आलोचनासे क्षुब्ध न होकर शान्त-चित्तसे उसपर विचार करके हितकारी आलोचनाका क्रियान्वयन करे।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वीच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥

(अथर्ववेद ८। ४। १८)

हे शत्रुमारक वीरो! सब समाजमें फैल जाओ, उन राक्षसोंकी खोज करो, पकड़ो, पीस डालो—जो पक्षीके समान रात्रिमें विमानसे विचरण करके हमारे राष्ट्रकी गुप्तचरी करते हैं तथा वह जिन्होंने दिव्य गुणयुक्त यज्ञादि तथा अन्य शुभ व्यवहारोंमें हिंसाएँ धरी हैं, अर्थात् उन सद्व्यवहारोंमें हिंसाका प्रवेश कराया है।

वेदकी अपौरुषेयताका मर्म

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

[गताङ्क पृ०-सं० ६८९ से आगे]

(४)

इतिहासाभास नहीं

अबतक पुराण और वेदके आधारपर वेदकी अपौरुषेयताको बुद्धिगम्य करनेका प्रयास किया गया है। किंतु दुरभिसंधि-ग्रस्त पाश्चात्त्य विद्वानोंने इस इतिहासको 'इतिहासाभास' समझानेके लिये घोर प्रयास किया है। पुराणकी तरह वेदसे आस्था हटानेके लिये इसे 'दकियानूसी' और 'निरर्थक' कहा है। इस तरह वेदके प्रति भी घोर घृणाका भाव फैलाया गया है।

प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलरने अपनी 'आत्मकथा' के द्वितीय भागमें लिखा है—'वेदमन्त्र केवल अतिप्राचीन ही नहीं, 'दकियानूसी' और 'निरर्थक' हैं। जिस वातावरणमें हम रह रहे हैं, उसमें उन्हें मँडराते रहनेका कोई अधिकार नहीं है। हम कभी इनके द्वारा अपने जीवनको प्रभावित नहीं होने दे सकते।' (ओल्ड लैगसीन, पृष्ठ ८१)

अतः स्थालीपुलाकन्यायसे यहाँ दो-चार ऐसे तथ्योंपर तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि वेद-पुराणका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और उससे इससे टकरानेवाले सभी मत तथ्य नहीं हैं। तब यह स्पष्ट हो जायगा कि वातावरणमें किस विचारको मँडरानेका अधिकार है और किस विचारसे हम अपने जीवनको प्रभावित होने दें।

विचारणीय विषय

(१) चेतनाका अस्तित्व

चेतना (आत्मा, जीव)-का अस्तित्व कहाँ-कहाँ है?

वेद-शास्त्रका मत

(क) वेद-शास्त्रका मत यह है कि ढील-लीख आदि स्वेदजों, सर्प-पक्षी आदि अण्डजों, पशु-मनुष्य आदि जरायुजोंमें तो आत्मा होती ही है, वनस्पति आदि उद्भिज्जोंमें भी होती है—

जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥

(महाभा० शां० प० १८४। १७)

अर्थात् मैं वृक्षोंमें आत्माको प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ। अतः वृक्ष चेतनाहीन कतई नहीं हैं।

वेदने इस तथ्यको हेतु देकर विस्तारसे समझाया है, सबोंको उद्धृत करनेसे कलेवर बढ़ेगा। अतः यहाँ उसका केवल छोटा-सा ऐसा उद्धरण दिया जा रहा है, जिस तथ्यको आजके विद्वान्ने प्रत्यक्ष कर लिया है, और इससे विश्वको लाभ भी पहुँचा है—

स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति॥

(छा० उ० ६।११।१)

पेपीयमानः=अत्यर्थं पिबन्नुदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानो हर्षं प्राप्नुवंस्तिष्ठति। (वही शा० भा०)

अर्थात् वृक्ष जीवात्मासे ओतप्रोत है। खनिज द्रव्योंके रसोंको अपनी जड़ोंसे चूसकर खाता है और भरपूर जलोंको पीकर प्रसन्नतासे लहराता रहता है।

(ख) सेमिटिक मत (यहूदी, ईसाई, मुसलमान-मत)— सेमिटिक मत यह है कि आत्मा केवल मनुष्यमें होती है।[१] इसके अतिरिक्त ढील, लीख, पक्षी, पशु आदिमें आत्मा नहीं होती। जो मत पशु-पक्षी आदिमें भी आत्माका होना नहीं मानता, वह भला वनस्पतियोंमें आत्माका होना कैसे स्वीकार कर सकता है?

(ग) कलके विज्ञानका मत—

उन्नीसवीं सदीके प्रारम्भतक विज्ञान वनस्पतियोंमें आत्माका होना स्वीकार नहीं करता था। जब डॉ० जगदीशचन्द्र वसुने रिजोनेन्स रिकार्डर आदि यन्त्रोंकी सहायतासे वनस्पतियोंमें चेतना होनेका प्रयोग कर दिखाया, तब लगभग १८८७ ई०में विज्ञानने इसे स्वीकार कर लिया।

१-ईसाइयोंका यह विश्वास है कि मनुष्यके ही आत्मा है, दूसरे किसीके नहीं। (महात्मा गांधीकी आत्मकथा, पृष्ठ ११८) महात्मा गांधीको ईसाई भाइयोंने अपने सिद्धान्तोंको अवगत करानेके लिये 'बाइबिल' आदि सभी ग्रन्थोंको पढ़वाया था। सप्ताहमें एक बार उन पुस्तकोंपर सामूहिक चर्चा कर उन्हें हस्तामलकवत् करा दिया था। (आत्मकथा भाग १, पृष्ठ १०६—१०८)

(घ) आजके विज्ञानका मत—

आज तो विज्ञानने इस दिशामें गहरी प्रगति कर ली है। रूसने ऐसे-ऐसे यन्त्र आविष्कृत कर लिये हैं, जिनसे जाना जा सकता है कि वनस्पतियाँ आनेवाले शत्रुको शत्रु समझ लेती हैं और काँप उठती हैं, तथा यदि आनेवाला व्यक्ति हितैषी है तो उसको देखकर वे प्रसन्नतासे झूम उठती हैं।

आजका विज्ञान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वेदके इस तथ्यको भी जान सका है कि किस-किस जातिका वृक्ष किस-किस खनिज पदार्थको चूसता है। जैसे—

(१) डगलस फर, डार्फ, जूनियर फिलेपाइन आदि वृक्ष जलके साथ स्वर्णके सूक्ष्म कणोंको चूसते हैं।

(२) न्यू मैक्सिकोमें प्रिंस, लूम, मस्टर्ड आदि पेड़-पौधे गन्धकके सूक्ष्मतम कणोंको जलके साथ चूसते हैं।

जब विज्ञानको पता चल गया कि किस जातिका पौधा किस भौम-रसको चूसता है, तब सोने आदिके खानोंको पता लगानेमें बहुत सुविधा हो गयी। अब विज्ञान हेलीकाप्टर आदिके द्वारा लिये गये छायाचित्रोंके माध्यमसे सरलतासे पता लगा लेता है कि किस खनिजका भण्डार कहाँ है। जब छायाचित्र बता देते हैं कि यहाँ डगलसके पौधे अधिक हैं, वहाँ सोनेका भण्डार होगा ही।

इस तरह '**भौमान् रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानश्च तिष्ठति**' यह वेदका कथन आज पूरा-पूरा सत्य समझमें आ गया है। संसारके समस्त वातावरणमें मँडरानेवाला वह मत आज सत्य साबित नहीं हुआ कि 'आत्मा केवल मनुष्यमें होता है।' कलका विज्ञान भी इसी असत्य मतको माननेके लिये बाध्य था, क्योंकि तबतक यह इस तथ्यको ढूँढ़ नहीं पाया था। विज्ञानकी अच्छाई यही है कि यह सत्यको पाकर इसे अपना लेता है और असत्यको छोड़ देता है।

अब विश्वके प्रत्येक व्यक्तिको विचारना चाहिये कि जिस वातावरणमें हम रह रहे हैं, उसमें वेदके विचारोंको मँडराते रहनेका अधिकार है या नहीं। साथ-साथ यह भी विचारना चाहिये कि मैक्समूलरका वह मत कि 'आजके वातावरणमें वेद-विचारोंको मँडराते रहनेका कोई अधिकार नहीं है', कहाँतक संगत है! यह भी विचारना होगा कि हम अपने जीवनको वेदके विचारोंसे प्रभावित होने दें या अन्य मतोंसे!

(२) पृथ्वीकी आयु

जिस पृथ्वीपर हम रह रहे हैं, इसकी आयु कितनी हुई, यह विचारणीय विषय है। यहाँ भी तुलनात्मक दृष्टिसे विचार प्रस्तुत किया जाता है।

(क) सेमिटिक मत—

सेमिटिक मत यह है कि पृथ्वीकी आयु लगभग छः हजार वर्षोंकी हुई। अरमाघके आर्क बिशप उशरने बताया है कि संसारकी सृष्टि ईसासे चार हजार वर्ष पहले हुई है।[१] यह मत आज विश्वभरमें फैला हुआ है। यही कारण है कि किसी पाश्चात्य विद्वान्ने भारतकी किसी पुस्तकको पाँच हजार वर्षसे पहलेकी नहीं ठहराया। पुस्तकालयोंमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, किंतु मैक्समूलरने इसका काल केवल १२०० ई० पूर्व माना है।

(ख) वैदिक मत—

वेदानुगत शास्त्रका मत है कि पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयु १ अरब ९७ करोड़ ४९ हजार १०४ वर्षकी हुई और मूल पृथ्वीकी आयु १५ नील ५५ खरब २१ अरब ९७ करोड़ २९ लाख १०४ वर्ष (सन् १९९९ में) हुई।

(१) पृथ्वीकी सतहकी आयुके सम्बन्धमें आर्यभट्टने लिखा है—

> **ब्रह्मदिवसेन भूमेरुपरिष्टाद् भवति योजनं वृद्धिः।**
> **दिनतुल्यैकरात्र्या मृद उपचिताया भवति हानिः॥**
>
> (आर्यभट्टीय गोलपाद ८)

अर्थात् ब्रह्माका दिन जब आरम्भ होता है, तब (पहले-से विद्यमान) पृथ्वीकी ऊपरी सतहका चारों ओरसे उत्तरोत्तर विकास होने लगता है और शाम आते-आते एक योजनतक वह सतह बढ़ जाती है। ब्रह्माकी रात आनेपर एक योजन जो सतह बढ़ी थी, उसका विनाश हो जाता है। (मूल पृथ्वी बची रह जाती है।) आर्यभट्टके इस सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए भास्कराचार्यने कहा है कि ब्रह्माके दिनमें पृथ्वीपर

---

१. पैट्रिक मूरने ग्रह और उपग्रह (THEPLAATS) ग्रन्थके पृष्ठ ७ पर लिखा है 'अरमाघके आर्क बिशप उशरने प्रामाणिकरूपसे कहा था कि इस संसारकी सृष्टि ४००४ ईसापूर्व २६ अक्टूबरको सुबह ९ बजे हुई थी'।

मिट्टीकी परतें पड़ती जाती हैं और संध्यातक बढ़कर वह एक योजनकी हो जाती है—

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात् स्याद् योजनं भूर्भुवभूतपूर्वैः।

जब ब्रह्माकी रात्रिका आरम्भ होता है, तब जो एक योजन पृथ्वीकी सतह बढ़ी थी, उसका नाश हो जाता है। अर्थात् अवान्तर प्रलयमें जलप्लावनसे बढ़ी हुई मिट्टी बह जाती है—

ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः।

—सम्पूर्ण पृथ्वीका नाश तो महाप्रलयमें होता है, जबकि ब्रह्माकी पूरी आयु समाप्त हो जाती है—

प्राकृतिकेऽखिलायाः ।

(सिद्धान्त-शिरोमणि, गोलाध्याय ६२)

इस तरह पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयु (अबतक सन् १९९९ तक) १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार १०४ वर्षोंकी हुई। पञ्चाङ्गोंमें पृथ्वीके इस ऊपरी भागकी ही आयु लिखी रहती है।

(२) मूल पृथ्वी तो ब्रह्माके जन्मसे पहले बन चुकी थी। क्योंकि इसकी गणना २४ तत्त्वोंमें है और तत्त्वोंकी सृष्टि भगवान् अपनी बहिरङ्गा शक्ति प्रकृतिके द्वारा करते हैं। जिसको विज्ञानने ऊर्जा कहा है। इन तत्त्वोंकी सृष्टि किसी जीवके द्वारा नहीं होती। इस तथ्यको ब्रह्माने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिस्तथैव च।
एते मत्तः पूर्वतराः ......॥ (ब्रह्मपुराण १६१।४)

(ग) विज्ञान-मत

प्रारम्भमें विज्ञानने पृथ्वीकी आयु कुछ करोड़ वर्षकी मानी। जैसे-जैसे उन्नत साधन मिलते गये, वैसे-वैसे पृथ्वीकी आयुका काल बढ़ता गया। क्योंकि विज्ञानकी बड़ी विशेषता है कि वह सत्यकी खोजमें निरन्तर लगा रहता है। किसी साधनसे जब किसी सत्यका अंश पा लेता है तो पहली मान्यताको ठुकरानेमें वह देर नहीं करता। यही कारण है कि आजका विज्ञान करोड़से उठकर अरबपर चला आया है। यह बात नीचेकी संक्षिप्त तालिकासे स्पष्ट हो जायगी—

१- लार्ड केल्विन—२ से ४ करोड़ वर्ष।
२- जाली—१० करोड़ वर्ष।
३- गुड चाइल्ड—७०.४ करोड़ वर्ष।
४- जैविक विधियोंद्वारा—३ अरब वर्ष।
५- खगोलीय विधियोंद्वारा—३ अरब १० करोड़ वर्ष।
६- रासायनिक विधियोंद्वारा—३ अरब ५० करोड़ वर्ष।
७- उल्का पिण्डोंद्वारा—४ अरब ५० करोड़ वर्ष।
८- रेडियो—एक्टिवताद्वारा ४ अरब ५० करोड़ वर्ष।

उपर्युक्त साधनोंमें रेडियो एक्टिवता अधिक विश्वसनीय साधन है। बीसवीं शताब्दीमें रेडियम, यूरेनियम आदि कुछ ऐसे तत्त्वोंका पता चला, जो स्वाभाविक रीतिसे ऊर्जाका विकिरण करते हुए अन्तमें सीसाके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इन किरण-सक्रिय तत्त्वोंकी विशेषता यह है कि इनका विघटन सुनिश्चित गतिसे होता है। ऊँचे-से-ऊँचे ताप-दबावमें भी इनके विघटनकी सुनिश्चिततामें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आता। रासायनिक द्रवोंका भी इसके विघटनके सुनिश्चिततामें कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन किरण-सक्रिय तत्त्वोंकी निश्चित गतिकी सहायतासे समयकी सीमा विश्वसनीय ढंगसे बतायी जा सकती है। यहाँ सावधानी यह बरतनी पड़ती है कि किरण-सक्रिय विघटनसे बने सीसेमें दूसरे सीसे मिले रहते हैं। इस सावधानीके बरतनेके बाद इन तत्त्वोंकी निश्चित गतिकी सहायतासे समयकी सीमा-निर्धारणमें गलतीकी सम्भावना नहीं रहती है। मारो-गोरोके पिचब्लेंड खनिजमें जो सीसे प्राप्त हुए हैं, वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इसके बननेमें १ अरब ५० करोड़ वर्ष लगे होंगे।

संगमन

ऊपर एक मत ऐसा बताया गया है जो आज विश्वके सम्पूर्ण वातावरणमें मँडरा रहा है, उसके अनुसार पृथ्वीकी आयु ६ हजारसे लेकर ८ हजार वर्षतक ही आँकी गयी है। दूसरा मत वेदका बताया गया है, जो मूल पृथ्वीकी आयु नीलतक बताती है और इसके सतहकी आयु १ अरब ९७ करोड़ और कुछ वर्ष बताती है। तीसरा मत विज्ञानका बताया गया है। विज्ञानने पृथ्वीकी आयु हजार तो कभी नहीं मानी। करोड़से खोजते-खोजते आजके विज्ञानने इसकी न्यूनतम आयु चार अरब वर्ष और अधिकतम आयु छः अरब वर्ष मानी है।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययनसे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति कह सकता है कि सच्चाई किस मतमें है और किस मतको आजके वातावरणमें मँडरानेका अधिकार है!

[क्रमशः]

काशीस्मरणमात्रेण

काशीस्मरणमात्रेण किञ्चित्रं यदघं व्रजेत्।
गर्भवासोऽपि नश्येत विश्वेशानुग्रहात्परात्॥

(स्क० पु० का० खं० ५०। १२८)

[विष्णुभगवान् गरुड़जीसे कहते हैं—] काशीके स्मरण करनेमात्रसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं, विश्वेश्वरकी प्रसन्नतासे प्राणियोंके गर्भवासका असह्य कष्ट भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् प्राणिमात्रको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

योजनानां शतस्थोऽपि विमुक्तः स्यात् स्मरेद्यदि।
बहुपातकपूर्णोऽपि पदं गच्छत्यनामयम्॥

(नारदपुराण ६। ३७)

सौ योजनपर स्थित रहकर भी यदि श्रीकाशीजीका स्मरण करे तो बहुत पाप-कर्मसे पूर्ण होनेपर भी वह प्राणी पाप-रहित होकर परमपदको प्राप्त होता है।

गच्छता तिष्ठता वापि स्वपता जाग्रताथवा।
काशीत्येष महामन्त्रो येन जप्तः स निर्भयः॥

(स्क० पु० का० खं० ६४। ३६)

स्कन्दजी अगस्त ऋषिको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि जो प्राणी चलते, खड़े, सोते और जागते हुए हर समय 'काशी' इन दो अक्षरोंके महामन्त्रको जपते रहते हैं, वे इस कराल संसारमें निर्भय रहते हैं, अर्थात् इस संसारके भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।

श्रुतं कर्णामृतं येन काशीत्यक्षरयुग्मकम्।
न समाकर्णयत्येव स पुनर्गर्भजां व्यथाम्॥

(स्क० पु० का० खं० ६४। ३३)

'काशी' इन दो अक्षरोंको जिन प्राणियोंने अपने कानोंसे श्रवण कर लिया, वे लोग पुनः गर्भवासजन्य व्यथाका अनुभव नहीं करते हैं, अर्थात् गर्भवास-व्यथासे मुक्त हो जाते हैं।

येन काशी हृदि ध्याता येन काशीह सेविता।
तेनाहं हृदि सन्ध्यातस्तेनाहं सेवितः सदा॥
काशीं यः सेवते जन्तुर्निर्विकल्पेन चेतसा।

(स्क० पु० का० खं० ५३। ९३-९४)

[विश्वनाथजी कहते हैं कि] जो मनुष्य निर्विकल्प चित्तसे काशीका स्मरण, ध्यान और सेवन करता है, उससे मैं सदैव सेवित रहता हूँ।

काश्यां येषां नाम गृह्णन्ति लोका
बीजं तेषां जायते मोक्षमार्गे।
काशीं ये वै संस्मरन्त्यन्यदेशे,
तानप्यात्मा शङ्करस्तारयेच्च॥

जो लोग 'काशी' नाम लेते हैं तो समझना चाहिये कि उन लोगोंके मोक्षका बीज जम गया है। जो अन्य देशमें 'काशी' स्मरण करते हैं, उन्हें भी विश्वनाथजी तार देते हैं, अर्थात् वह भी मुक्त हो जाता है।

सुधां पिबति यो नित्यं काशीवर्णद्वयात्मिकाम्।
स नैर्जरीं दशां हित्वा सुधैव परिजायते॥

(स्क० पु० का० खं० ६४। ३२)

स्कन्दजी अगस्त मुनिसे कहते हैं कि दो वर्णोंवाली 'काशी' नामका जो साक्षात् सुधापान करता है, अर्थात् सस्नेह निरन्तर 'काशी' का जप करता हुआ आनन्दमें निमग्न रहता है, वह देवताओंकी श्रेणीमें अपनेको ऊपर कर लेता है, देवताओंसे भी श्रेष्ठ हो जाता है।

काशीति वर्णद्वितयं स्मरंस्त्यजति पुद्गलम्।
यत्र क्वापि भवेत् तस्य कैलाशे वसतिः स्फुटा॥

(पद्मपुराण त्रि० से० पृ० ८७)

'काशी' इन दो अक्षरोंका स्मरण करता हुआ जो व्यक्ति जहाँ कहीं भी शरीर पुद्गलका परित्याग करता है, उसका कैलाशमें वास होता है, यह निश्चित है।

अद्यारभ्य महाभागा ये स्मरिष्यन्ति काशिकाम्।
तेषां पापक्षयो भूयान्मोक्षबीजं भवत्वनु।
तीर्थयात्रार्थिनो ये हि काश्यामागत्य धार्मिकाः॥

(काशीरहस्य अ० १४। ५०)

आजसे जो मनुष्य काशीका स्मरण करेंगे, उनके पाप नष्ट हो जायेंगे। तत्पश्चात् वही मोक्षका कारण बन जायेगा। जो धर्मकी भावनासे तीर्थयात्राके रूपमें काशी आते हैं, वे भी इस लाभको प्राप्त कर लेंगे।

—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

(ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्क पृ०-सं० ६९३ से आगे]

एक बार वरुण और वसिष्ठ नौकापर समुद्र-पर्यटनके लिये गये थे। वहाँ जल-तरङ्गोंके थपेड़ोंसे नौका हिलती-डोलती थी। तब उन्हें झूलेकी क्रीड़ाका सुख मिला था। वह दिन भी बड़ा सुहावना था (७। ८८। ३-४)। वरुणके औरस पुत्र होते हुए भी वसिष्ठने कदाचित् कभी वरुणकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया था; किंतु पीछे वरुण प्रसन्न हो गये थे (वहींका छठा मन्त्र)। सरस्वतीसे कहा गया है—सुधना सरस्वती! तुम्हारे लिये वसिष्ठ यज्ञका द्वार खोलते हैं (७। ९५। ६) तो क्या सरस्वतीके प्रथम उपासक वसिष्ठ ही थे?

वसिष्ठ और विश्वामित्रके मनोमालिन्यके स्पष्ट उदाहरण भी मन्त्रोंमें मिलते हैं।

वसिष्ठके समान ही उनके वंशज भी महान् याज्ञिक थे। कहा गया है—'वसिष्ठके समान ही उनके वंशजोंने स्तुति की। उन्होंने मङ्गलके लिये वसिष्ठके समान देवपूजा की (१०। ६६। १४)।

सप्तम मण्डलके १ से ३२ सूक्तों, ३३ के १ से ९ मन्त्रों और ३४ से १०४ सूक्तोंके मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ हैं। ३३वें सूक्तके १० से १४ मन्त्रोंके ऋषि वसिष्ठ-पुत्रगण हैं और किसी-किसीके मतसे १०१ सूक्तके ऋषि अग्निपुत्र कुमार हैं। ९ वें मण्डलके ९० सूक्तके ऋषि भी वसिष्ठ हैं। इसी मण्डलके ९७ सूक्तके ऋषि वसिष्ठ, उनके पौत्र पराशर और उनके गोत्रज नाना ऋषि हैं।

वसिष्ठ, पराशर आदिके शत्रु अनेक असुर थे (७। १८। २१)। शक्ति-पुत्र पराशर प्रथम मण्डलके ६५ से ७३ सूक्तोंके ऋषि हैं। ९। १०८ के शक्ति आदि कई ऋषि हैं। ९। ९७ के १६ से १८ मन्त्रोंके वसिष्ठ-गोत्रज व्याघ्रपाद, १३ से १५ के उपमन्यु, ७ से ९ के वृषगण, २२ से २४ के कर्णश्रुत, २५ से २७ के मृळीक, २८ से ३० के वसुक्र और १० से १२ के मन्यु ऋषि हैं। वृषगण वाद्यके साथ यज्ञमण्डपमें मन्त्र गाते थे (७। ९७। ८)। दशम मण्डलके ८३ से ८४ सूक्तोंके ऋषि भी ये ही तपःपुत्र मन्यु हैं। वसिष्ठ-गोत्रीय प्रथ १०। १८१ के प्रथम मन्त्रके ऋषि हैं और ८। ७६ के कुछ मन्त्रोंके ऋषि वसिष्ठ-पुत्र द्युम्नीक हैं। १०। १२२ के ऋषि वसिष्ठ-पुत्र चित्रमहा हैं।

यह बात ध्यान देनेकी है कि वंशधरोंके अतिरिक्त शिष्य-प्रशिष्य भी अपने गुरु या आचार्यके गोत्रसे ही अभिहित होते थे। सभी गोत्रज वंशधर नहीं थे।

विश्वामित्र चन्द्रवंशी राजा गाधिके पुत्र थे। इनके पास अतुल ऐश्वर्य और अपार सैन्य-बल था। कामधेनुके लिये वसिष्ठके साथ जो इनका संग्राम हुआ था, उसमें ये ससैन्य पराजित हो गये थे—यह लिखा जा चुका है। इसके अनन्तर इन्होंने महादेवको प्रसन्नकर धनुर्वेद या युद्ध-विद्याको हस्तगत किया। पुनः आक्रमण करके इन्होंने वसिष्ठका तपोवन ध्वस्त-विध्वस्त कर डाला। वसिष्ठने इन्हें ब्रह्मदण्डसे पुनः परास्त कर दिया। इन्होंने ही त्रिशङ्कु राजाको नक्षत्रपुञ्जमें स्थापित करनेमें साहाय्य किया।

जिन दिनों विश्वामित्र पुष्कर क्षेत्रमें तपोनिरत थे, उन दिनों मेनका नामकी अप्सराने विघ्न डाला। फलस्वरूप शकुन्तलाका जन्म हुआ। कई बार विकट तप करनेपर ब्रह्माने इन्हें ब्राह्मणत्व प्रदान किया। अनन्तर इन्होंने वेदाध्ययन किया। इन्होंने परीक्षाके लिये राजा हरिश्चन्द्रका सारा राजैश्वर्य ले लिया। राजाकी महिषी शैब्या और पुत्र रोहिताश्व काशीमें एक ब्राह्मणकी नौकरी करने लगे और स्वयं विश्वामित्रको दक्षिणा देनेके लिये राजाने चाण्डालकी नौकरी कर ली। सर्पदष्ट होनेपर जब रोहिताश्व मर गया, तब शैब्या उसे लेकर वहीं पहुँची, जहाँ हरिश्चन्द्र नियुक्त थे। राजा करुण विलाप करने लगे, तब विश्वामित्र पहुँचे, सारा राजैश्वर्य लौटा दिया और रोहिताश्वको भी जीवित कर दिया। राक्षसोंका उपद्रव जब इनके यज्ञमें होने लगा, तब ये राम और लक्ष्मणको अपने साथ ले गये और इन्हें मार्गमें ही बला और अतिबला नामके मन्त्र बताये। श्रीरामचन्द्रने ताड़काका वध करके विश्वामित्रका यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न कराया। यहाँसे विश्वामित्र इन्हें लेकर गौतम ऋषिके आश्रमपर गये और अहल्याका उद्धार किया। अनन्तर इन्होंने ही मिथिलामें रामचन्द्र आदि चारों भाइयोंका विवाह कराया। अन्तमें वसिष्ठसे इनकी मैत्री भी हो गयी थी।

ऋग्वेदमें ऐसी कथा तो नहीं है, परंतु वसिष्ठसे शत्रुतावाली बातोंकी झलक मिलती है। ये तृतीय मण्डलके

मन्त्रद्रष्टा हैं। इनके यहाँ अखण्ड अग्नि-कुण्ड प्रज्वलित रहता था (३। १। २१)। ३। १८। ४ में विश्वामित्रके वंशधरोंके लिये अग्निदेवसे अभय और आरोग्यकी माँग की गयी है। ३। २६। २-३ से ज्ञात होता है कि ये 'कुशिकगोत्रोत्पन्न—कौशिक' थे। ये कौशिक लोग महान् ज्ञानी थे—सारे संसारका रहस्य जानते थे (३। २९। १५)। ये स्वर्ग-सुखाभिलाषी भी बताये गये हैं (३। ३०। २०)। ३। ३३। ५ और ९ में विश्वामित्र अपनेको कुशिकनन्दन बताकर विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदियोंसे मार्ग माँग रहे हैं। ३। ५३। ७ में ये रुद्रके बलशाली पुत्र मरुतोंसे अश्वमेध-यज्ञमें अन्न-धनकी याचना कर रहे हैं। इसी ५३ वें सूक्तके ९ वें मन्त्रमें कहा गया है—'अतिशय सामर्थ्यशाली, अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, देदीप्यमान तेजोंके जनयिता और अध्वर्यु आदिके उपदेष्टा विश्वामित्रने सिन्धुको शान्त किया।' इसी सूक्तके १० से १३ मन्त्रोंमें विश्वामित्रने अपने पुत्रोंके यज्ञमण्डपमें 'हंसके समान मन्त्र-पाठ करने' और अपने कर्मोंका वर्णन किया है। १० वें मन्त्रमें इन्होंने कुशिकगोत्रजोंको भी अतीन्द्रियद्रष्टा बताया है। ३। ५३। २३-२४ मन्त्रोंमें विश्वामित्र कहते हैं—'वसिष्ठके भृत्यो! अवसान करनेवाले विश्वामित्रकी मन्त्र-शक्तिको तुम नहीं जानते। तपस्याका नाश न हो जाय, इसी लोभसे चुपचाप बैठे हुएको पशु जानकर ले जा रहे हो। वसिष्ठ मेरे साथ स्पर्द्धा करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि प्राज्ञ व्यक्ति मूर्ख व्यक्तिको उपहसनीय नहीं बनाते; अश्वके सम्मुख गर्दभ नहीं लाया जाता।' 'भरतवंशीय वसिष्ठके साथ पार्थक्य जानते हैं, एकता नहीं। शिष्टोंके साथ उनकी संगति नहीं है।' वसिष्ठ और भरतगणके साथ विश्वामित्रका वैमनस्य था, इसका आभास इन दोनों मन्त्रोंमें है।

मन्त्र-शक्तिकी बात भी ऊपर आयी है। जैमिनीय मीमांसाके मतसे 'जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उस देवताकी समस्त शक्ति उस मन्त्रमें निहित रहती है। मन्त्रोंमें अनुस्यूत शक्तिको दिखानेके लिये ही दिव्य शक्तियोंका वर्णन किया गया है। वस्तुतः मन्त्रगत दिव्य और अतिदिव्य शक्तियोंका ही यह वर्णन है, तत्तद्देवोंकी शक्तिका नहीं। प्रत्येक मन्त्रमें अद्भुत शक्ति है। यह शक्ति अबतक देश-विदेश सर्वत्र देखी जाती है। बड़े-बड़े पाश्चात्त्य मनीषियोंने कुछ ही वर्ष पहले तिब्बतमें मन्त्रोंकी अलौकिक शक्ति देखकर बड़ी-बड़ी पोथियाँतक लिख डाली हैं। इस सम्बन्धमें उन लोगोंका स्पष्ट अनुभव है, जो वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रोंके अनन्य अनुरागी और अदम्य अभ्यासी हैं।

९। ६७ के ऊपर 'गाथिन विश्वामित्र' का नाम आया है। १। १०। ११ में 'कुशिक-पुत्र' का उल्लेख है। १०। १२७ में कुशिकके पिता सौभर ऋषि कहे गये हैं। ३। ३१ में कुशिकके पिता इषीरथ कहे गये हैं। तब क्या कई कुशिक थे? ३। १ से १२ और २४ से ३२ सूक्तों, ३३ के ९ मन्त्रों, ३४ से ३५ सूक्तों, ३७ से ५३ सूक्तों तथा ५७ से ६१ सूक्तोंके द्रष्टा विश्वामित्र हैं। २६ वें और ३३ वें सूक्तोंके साथ ४। ६। ८ और १० मन्त्रोंके वक्ता दूसरे हैं। ३६ वेंके घोर आङ्गिरस ऋषि हैं। ६२ वें सूक्तके ऋषि भी विश्वामित्र हैं—मतान्तरमें अन्तिम तीन ऋचाओंके जमदग्नि हैं। मतान्तरके ही कारण ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनके द्रष्टा कई विभिन्न ऋषि बताये गये हैं। १०। १६७ के ऋषि विश्वामित्र और मतान्तरमें जमदग्नि हैं। किसी-किसी पौराणिक मतसे तो जमदग्निके पिता भी कुशिक थे। कुशिक ऋषि ब्राह्मण थे।

विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दा ऋग्वेदके १। १ से १० सूक्तोंके ऋषि हैं। ११ वें सूक्तके ऋषि मधुच्छन्दाके पुत्र जेता हैं। ९। १ के वक्ता भी ये मधुच्छन्दा ही हैं। १०। १९० के इनके पुत्र अघमर्षण द्रष्टा हैं। ३। १३-१४ के ऋषि विश्वामित्र-पुत्र 'अपत्य' हैं। ३। ५४ से ५६ के द्रष्टा विश्वामित्र-पुत्र प्रजापति हैं। ३। १५-१६ के कन-गोत्रीय उत्कील, ३। १७-१८ के ऋषि विश्वामित्रके अपत्य कत और ३। १९। २२ के कुशिकके अपत्य गाथी हैं। ९। ७० के ऋषि विश्वामित्र-गोत्रीय रेणु और १०। ८७ के विश्वामित्र-पुत्र रेणु कहे गये हैं। कदाचित् रेणु नामक दो ऋषि थे। रेणुने १७ वें मन्त्रमें अपनेको विश्वामित्रकी संतति बताया है। ९। ७१ के ऋषि विश्वामित्र-गोत्रीय ऋषभ और ९। १०४ के विश्वामित्र-पुत्र अष्टक हैं। १०। १६० के द्रष्टा विश्वामित्र-पुत्र पूरण हैं।

सत्त्व, रज और तम नामके तीनों गुणोंसे जो परे अर्थात् गुणातीत है, उसका नाम अत्रि है। ये जीवन्मुक्त योगी थे। ये ब्रह्माके मानस पुत्र थे। दक्ष-पुत्री अनसूया इनकी सहधर्मिणी थीं। दत्त, सोम और दुर्वासा नामके इनके तीन पुत्र थे। वनवास-कालमें रामभद्रने इनका आतिथ्य स्वीकार किया था। अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति कही गयी है; चन्द्रमाका एक नाम ही है 'अत्रिनेत्रज'।

परंतु ऋग्वेद १०। १४३ में अत्रि संख्य-पुत्र कहे गये हैं।

इस सूक्तके द्रष्टा ये ही हैं। पञ्चम मण्डलके द्रष्टा अत्रि हैं। एक बार असुरोंने अत्रिके ऊपर 'शतद्वार' नामका संहारक अस्त्र फेंका था (१।५१।३)। असुरोंके घरका नाम भी 'शतद्वार' था, जिसमें अंगारे धधकते रहते थे। इस घरमें उन्होंने अत्रिको झोंक दिया था। अश्विद्वयने इनकी रक्षा की थी (१। ११२। ७)। इनके प्रधान रक्षक ये अश्विद्वय ही थे (१।१८०।४)।५।७।१० में इस ऋषिका कथन है—'जो अग्निको हव्यदान नहीं करता, उस दस्युको अत्रि ऋषि पुनः-पुनः अभिभूत करें और विरोधियोंको भी पुनः-पुनः अभिभूत करें।' स्पष्ट है कि ऋषि लोग हवनके कट्टर पक्षपाती थे। दैवी शक्तिको जाग्रत् करने और अपना अर्पण करनेका श्रेष्ठ साधन हवन है। इस शब्दमें महती अभिव्यञ्जनाशक्ति भी है। यही कारण है कि नास्तिक भी बात-बातपर अपने 'प्राणोंकी आहुति' देते रहते हैं और छोटे-मोटे कार्योंकी समाप्तिपर 'यज्ञ सम्पन्न' करते रहते हैं। उच्चतम भावोंको व्यक्त करनेके लिये 'होम' और 'यज्ञ' शब्दोंसे बढ़कर संस्कृतमें वस्तुतः कोई शब्द नहीं है। ये दोनों धर्मके क्रियात्मक रूप हैं और किसी भी धर्मका प्राण उसका क्रियात्मक रूप ही है।

५।३८।५ की उक्ति है कि 'अत्रि-पुत्र इन्द्रके पास ही स्तोत्रोंको उच्च स्वरसे पढ़ते और इन्द्रको उद्दीप्त करते हैं।' प्रसिद्ध राजा और राजर्षि कक्षीवान्के होता भी अत्रि थे (५। ४१। ५)। ये 'सर्वदा पाठ करते रहते थे' (५।७४। १)। ६।५०।१० में भी अश्विद्वयके द्वारा अत्रि ऋषिको अन्धकारसे छुड़ानेकी बात है। यही बात ७।७१।५ में भी है। अत्रिके ऊपर इन्द्र प्रसन्न रहते हैं, यह बात अन्य ऋषियोंको भी विदित थी (८। ३६। ७ और ३७।७)। अग्निमें फेंके हुए अत्रिके लिये अश्विद्वयने अग्नि-दहनका निवारण हिम-जलसे किया था (८। ६२। ३)। असुरोंने 'सात बन्धनोंमें बाँधकर जलते अग्निकुण्डमें अत्रिको फेंका था (१०। ३९। ९)। एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि 'प्रबल पराक्रमी शत्रुओंने अत्रिको घोड़ेके समान बाँध रखा था' (१०। १४३। २)। 'यज्ञ करके अत्रि ऋषि वृद्ध हो गये थे। उन्हें अश्विद्वयने नवयौवन प्रदान किया था' (१०। १४३। १)।

पञ्चम मण्डलके ३७ से ४०, ४३, ८५ और ८६ सूक्तोंके द्रष्टा अत्रि हैं। ५। १ के ऋषि अत्रिवंशीय बुध और गविष्ठिर हैं। १०। १०१ सूक्तके वक्ता भी बुध हैं। वहाँ वे सोम-पुत्र कहे गये हैं। युद्धके समय अग्निने गविष्ठिरकी रक्षा की थी। (१०। १५०। ५)। ५। २ के ऋषि अत्रिपुत्र कुमार या जरपुत्र वृश हैं। अत्रि-गोत्रोत्पन्न वृश निन्दकोंके शत्रु थे (५। २। ६)। ५। २४ में चार मन्त्र हैं और चारोंके ऋषि क्रमशः बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु हैं। १०।५७ से ६० सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं। १०। ५९। ८ में सुबन्धुके माता-पिता द्यावा-पृथिवी कहे गये हैं। ५। ११—१४ के ऋषि सुतम्भर हैं। ये अवत्सार ऋषिके यज्ञमें फलोंके पालक थे (५। ४४। १३)। ५। ४१। ११ में अत्रिके अपत्य भौम ऋषि पर्वतका भी सम्मान कर रहे हैं। ये ५। ४१-४२, ७६-७७ और ८३-८४ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। ५। ३३। १ से ज्ञात होता है कि संवरण ऋषि दुर्बल थे और बलशाली बननेके लिये इन्द्रकी स्तुति करते थे। इसी ३३ वें सूक्तके दसवें मन्त्रमें कहा गया है कि लक्ष्मणके पुत्र ध्वन्यने संवरणको प्रचुर धन प्रदान किया था। ५। ३३-३४ के ऋषि ये ही हैं। अत्रिके अपत्य अवस्यु उद्भट विद्वान् थे और दानमें उन्हें वायुवेगशाली अश्व मिले थे (५।३१।१०)। ये अश्विद्वयके उपासक थे और रथालंकरण-कलाके ज्ञाता थे (५। ७५। १)। ५। ३१ और ७५ सूक्तोंके द्रष्टा ये ही हैं। अत्रिके अपत्य वसूयु ऋषि ५। २५-२६ सूक्तोंके वक्ता हैं। ये अग्निके उपासक थे। इनके भी बहुत शत्रु थे (५। २५। १ और ९)। सप्तवध्रि ऋषि मायाकी पेटिका (बाक्स)-में बंद थे। अश्विद्वयने उसे विभक्त करके उन्हें निकाला था (५। ७८। ५-६)। ये ही आत्रेय सप्तवध्रि ५। ७८ और ८। ६२ के ऋषि हैं। इसी ७८ के १८ वें मन्त्रमें कहा गया है कि 'ये काली पेटिकामें बंद थे, जिसे पीछे इन्होंने जला डाला।' आत्रेय एवयामरुत् विष्णु और मरुतोंके विशिष्ट स्तोता थे। ५। ८७ के ऋषि ये ही हैं। ५। ३० के द्रष्टा वभ्रु हैं। ये इन्द्रके स्तोता थे। 'रुशम देशके राजा ऋणंचयके किंकर देशवासियोंने अलंकार और आच्छादनसे सुसज्ज गृह, चार हजार गायें और हिरण्मय कलश इन्हें दिया था' (५। ३०। १२—१५)। आत्रेय द्युम्न ५। २३ के ऋषि हैं। ये अग्निदेवसे इसी सूक्तके १-२ मन्त्रमें 'शत्रु-विजेता' और शत्रु-सेना-पराभवकारी पुत्र माँग रहे हैं। अत्रिके अपत्य विश्वसामा ऋषि अग्निको वर्द्धित और स्तोत्रद्वारा अलंकृत करते थे। (५। २२। ४)। ये ५। २२ के द्रष्टा हैं। अत्रि-पुत्र द्वित ऋषि विशुद्ध हव्य-वाहक थे (५। १८। २)। इस १८ वें सूक्तके ये ही वक्ता हैं। आत्रेय वव्रि ५। १९ के ऋषि हैं।

अत्रिके गोत्रज गय ऋषि अग्नि-जागरण करनेमें दक्ष थे (५। १०। ४)। इनके पिता प्लुति थे। गयका कहना है—'देवोंकी प्रसन्नतासे मनुष्य प्रभुत्व पाया करते हैं (१०। ६३। १७)। १०। ६४। १७ में भी यही बात है। ये ५। ९-१० और १०। ६३-६४ के द्रष्टा हैं। अत्रिके अपत्य श्यावाश्व ऋषि मरुतोंके स्तोता थे तथा अश्विद्वयके भी उपासक थे। राजा तरत्की स्त्री शशीयसीने इन्हें 'शतमेषात्मक पशु-यूथ प्रदान किया था।' ये अपना अनुभव बताते हैं—'जो पुरुष देवोंकी आराधना और धन-दान नहीं करता, उसकी अपेक्षा शशीयसी सर्वांशतः श्रेष्ठ है (५। ६१। ५-६)। ये ५। ५२—६१ तथा ८१-८२ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। ९। ३२ के ऋषि भी ये ही हैं। इनके पुत्र अन्धीगु ९। १०१ के तीन मन्त्रोंके ऋषि हैं। एक कण्वगोत्रीय श्यावाश्व भी थे, जो ८। ३५—३८ के द्रष्टा हैं। पञ्चम मण्डलके ३—६ सूक्तोंके वसुश्रुत, ७-८ के इष, ३२ के गातु, ६९-७० के उरुचक्रि, ६६—६८ के यजत, ७३-७४ के पौर, १७-१८ के पूरु, २१ के सस, ४६ के 'सर्वज्ञ' प्रतिक्षत्र, ४७ के प्रतिरथ, ६५ के रातहव्य, ७१-७२ के बाहुवृक्त, ६२ के श्रुतविद्, ४५ के सदापृण, ७९-८० के सत्यश्रवा, २० के प्रयस्वत्, ६३-६४ के अर्चनाना, ४८ के प्रतिभानु, ४९ के प्रतिप्रभ, ५०-५१ के स्वस्ति और १५ के धरुण ऋषि हैं।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें अङ्गिरा और उनके वंशधरों और शिष्य-प्रशिष्योंका जितना उल्लेख है, उतना किसी भी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं है। प्रसिद्धि है कि अङ्गिरा ब्रह्माके मानस पुत्र थे। इनकी स्त्रीका नाम श्रद्धा या किसी मतसे स्मृति था। इनके दो पुत्र थे—बृहस्पति और उतथ्य।

अङ्गिराके वंशीय और गोत्रीय किसी-किसी मतसे नवम मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा हैं। अङ्गिरोवंशीयोंके स्तोत्र द्वार-स्थित स्तम्भके समान अचल बताये गये हैं (१। ५१। १४)। अङ्गिरा लोगोंने पणियों (अनार्यों)-के द्वारा अपहृत गौओंका उद्धार किया था। इन गायोंको खोजनेमें सरमा नामकी कुतिया इनके साथ थी। ये दस-दस महीने लगातार यज्ञ करते थे (१। ६२। २—४)। इन्होंने मन्त्रद्वारा गो-हर्ता पणियोंका विनाश किया था (१। ७१। १)। इन्होंने 'अग्नि प्रज्वलित करके सुन्दर योगके द्वारा इन्द्रकी पूजा की थी' (१। ८३। ४)। अङ्गिराके पुत्र कुत्स १। १०१ से ११५ सूक्तोंके द्रष्टा हैं और पणियोंके द्वारा अपहृत गौओंकी कथा इन्होंने भी कही है (१। १०१। ५ आदि)। राक्षसोंने इन्हें भी कूपमें डाल दिया था। इन्द्रने इनका उद्धार किया था (१। १०६। ६)। दिवोदासके पुत्र परुच्छेदका मत है कि दधीचि, अङ्गिरा, प्रियमेध (अङ्गिराके पुत्र), कण्व, अत्रि और मनु प्राचीन ऋषि हैं (१। ३९। ९)। अर्बुद राक्षसके वधके समय इन्द्रने अङ्गिरा लोगोंकी सहायता ली थी (२। ११। २०)। आङ्गिरस लोग 'नयी स्तुति' करनेमें निपुण थे (२। १७। १)। यज्ञ-स्थानसे चुरायी हुई अङ्गिरा लोगोंकी गायोंका पता इन्द्रसे ज्ञात हुआ (२। २१। ५)। वे पर्वतोंमें छिपायी गयी थीं (२। २३। १८)। वहीं पणियोंका दुर्ग था। 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' अङ्गिरा लोगोंने पणियोंकी माया जानकर वहीं अग्निको फेंका था (२। २४। ७)। सात मेधावी अङ्गिरा लोग पर्वतपर इन्द्रके साथ गये थे। पहले सरमा पर्वतके टूटे हुए द्वारपर पहुँची थी और शब्द पहचानकर गायोंके पास पहुँच गयी थी। इन्द्रकी सहायतासे गौओंका उद्धार होनेके कारण इन्होंने इन्द्रकी पूजा की (३। ३१। ५—७)। आङ्गिरसोंके साथ इन्द्रने 'परकीय सेनाको परास्त किया था' (३। ३४। ४)। सूर्यवंशी राजा सुदासके याजक अङ्गिरा थे (३। ५३। ७)। अङ्गिरा लोग कर्मोंके नेता और अग्निकी कामनावाले थे और उन्होंने ही पहले-पहल वाग्माताके स्तुति-साधक वचनोंको जाना और पश्चात् वचन-सम्बन्धी २७ छन्दोंको प्राप्त किया (४। १। १५-१६)। ये 'प्रथम मेधावी, अग्नि-ज्वालाओंके जनक और आदित्य-पुत्र' भी बताये गये हैं (४। २। १५)। ये पुनः 'नौ और दस महीनोंमें यज्ञ समाप्त करनेवाले' कहे गये हैं (५। २९। १२)। पर्वतके बीच गुप्तरूपसे रखी गयी गायोंका उद्धार जो इन्द्रके साथ अङ्गिरा लोगोंने किया और पणियोंको पराभूत किया, इसका उल्लेख बहुत मन्त्रोंमें है (६। ३९। २; ८। १४। ८; ६। ६५। ५; ७। १०। ४ आदि)। अङ्गिरा लोग 'सत्यसंध, कवि और प्राचीन समयके पालक तथा गूढ़ तेजस्वितासे सम्पन्न थे' (७। ७७। ४)। अङ्गिरा, अथर्वा और भृगु प्राचीन पितृगण कहे गये हैं (१०। १४। ६)। 'दस अङ्गिराओंकी उत्पत्ति प्रजापतिसे हुई थी' (१०। २७। १५)। इनमें एक कपिल थे (वहींका १६)। अङ्गिरा लोगोंने यज्ञके प्रतापसे इहलोक और परलोक—दोनोंमें संवर्द्धन प्राप्त किया था (१०। ६१। १०)। वे अमरत्व भी पा चुके थे। उन्होंने यज्ञ करके बलासुरका विनाश किया था। उन्होंने 'सत्यरूप यज्ञ' करके पृथिवीको प्रसिद्ध किया। ये ब्रह्मतेज भी प्राप्त कर चुके थे। ये गम्भीर

कर्मठ थे। नौ और दस मास यज्ञ करनेमें तो ये प्रख्यात थे ही। इनके काम लंबे-लंबे थे (१०। ६२। १—७)। अङ्गिरा लोगोंने सात छन्दोंवाले विशाल स्तोत्रका आविष्कार किया था, जिसका मूल सत्य था। ये 'सत्यवादी' थे, इनके मनका भाव सरल था, ये स्वर्गके पुत्र थे, महाबली थे और बुद्धिमानोंके समान आचरण करते थे (१०। ६७। १-२)। ये सामगाता भी थे (१०। ७८। ५)।

पणियोंके यहाँसे गायोंके उद्धारके लिये जो सरमा कुक्कुरी पर्वतपर गयी थी, वह नदी लाँघकर गयी थी। यह इन्द्रकी दूती थी। इसने इन्द्र, अङ्गिरा और देव-गुरु बृहस्पतिकी तेजस्विता, अजेयता और प्रतापशालिताकी बातें करके और पणियोंको भयभीत करके गौओंके उद्धारमें सहायता दी थी। यह पूरी कथा १०। १०८ में है। बात यह है कि गोदुग्धके बिना ऋषियोंका न तो सोमरस तैयार हो सकता था और न गो-घृतके बिना यज्ञ हो सकता था। इसीलिये ऋषि लोग गायोंके अनन्य अनुरागी, सेवक और भक्त थे तथा उनकी रक्षाके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहते थे। यह वैदिक संस्कार अबतक हममें विद्यमान है। यही क्यों, अधिकांश वैदिक संस्कार हमारे अंदर अभीतक वर्तमान हैं। वस्तुतस्तु वैदिक शब्दोंके आधारपर ही सारे संसारके प्राणियोंके नाम, कर्म और व्यवस्थापन निर्मित और निश्चित किये गये। मनुजीका भी ऐसा ही अभिमत है (मनुस्मृति १। २१)।

अङ्गिराके पुत्र हिरण्यस्तूप १। ३१ से ३५। ९। ४ और ९। ६९ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। इनके पुत्र अर्चत् १०। १४९के ऋषि हैं। आङ्गिरस सप्तगु 'सत्यकर्मा, शोभन-प्रज्ञ और मन्त्र-स्वामी' तथा १०। ४७ के द्रष्टा थे। नृमेध और पुरुमेध अङ्गिराके वंशज थे। ये ८। ७८-७९ के ऋषि हैं। नृमेध ८। ८७-८८ के भी द्रष्टा हैं। ९। २७ और २९ सूक्तोंके द्रष्टा भी ये ही हैं। इनके पुत्र शकपूत १०। १३२ के ऋषि स्मर्ता हैं। प्रियमेध प्रौढ़ 'प्रौढ़कर्मा' थे (१। ४५। ४)। प्रियमेध जातिस्मर भी थे (१। १३९। ९)। प्रियमेध और इनके वंशज इन्द्रके उपासक थे (८। ३। १६)। ये अत्यन्त प्रतिष्ठित ऋषि थे (८। ४। २०)। इनके सहायक अश्विद्वय थे (८। ८। १८)। आङ्गिरस प्रियमेध ८। २ के कुछ मन्त्रों, ८। ५७-५८ सूक्तों, ८। ७६ के कई मन्त्रों तथा ९। २८ सूक्तके ऋषि हैं। कण्वगोत्रोत्पन्न प्रियमेध ८। ३३ के द्रष्टा हैं। प्रियमेधके पुत्र सिन्धुक्षित् १०। ७५ के ऋषि हैं। अङ्गिराके पुत्र सव्य १। ५१—५७ के, आङ्गिरस प्रभुवसु ५। ३५-३६ और ९। ३५-३६ के, अङ्गिराके पुत्र वीतहव्य ५। १५ के, अङ्गिराके पुत्र विरूप ८। ४३-४४ और ६४ के, आङ्गिरस तिरश्ची ८। ८४ के, आङ्गिरस बिन्दु ९। ३० के, आङ्गिरस बृहन्मति ९। ३९—४४ के, आङ्गिरस अमहीयु ९। ६१ के, आङ्गिरस हरिमन्त या पवित्र ९। ७२ और ९। ८३ के, आङ्गिरस कण्व ९। ९४ के, आङ्गिरस शिशु ९। ११२ के, आङ्गिरस अभीवर्त १०। १७४ के, आङ्गिरस ध्रुव १०। ११३ के, आङ्गिरस संवर्त्त १०। १७२ के, आङ्गिरस प्रचेता १०। १६४ के, आङ्गिरस विहव्य १०। १२८ के, आङ्गिरस भिक्षु १०। ११७ के, आङ्गिरस दिव्य १०। १०७ के, आङ्गिरस वरु १०। ९६ के, आङ्गिरस सप्तगु १०। ४७ के और अङ्गिराके पुत्र हविर्धान १०। ११-१२ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। मरुत्पुत्र तिरश्ची वा द्युतान ८। ८५ के ऋषि हैं।

३। ३६ की १० वीं ऋचाके द्रष्टा घोर आङ्गिरस हैं। आङ्गिरस कृष्ण ८। ७४ (एक मतसे ८। ७६)-के और १०। ४१ तथा ४४ के ऋषि हैं। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है। छान्दोग्योपनिषद्के तृतीय प्रपाठकमें कहा गया है कि 'घोर आङ्गिरससे धर्मोपदेश सुनकर देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भूख-प्यास भूल गये थे'। तो क्या वे ही घोर और वे ही वंशीधर कृष्ण इन सूक्तों और मन्त्रोंके द्रष्टा हैं? जब श्रीकृष्णचन्द्रके समकालीन अनेक ऋषियों और राजाओंको मन्त्रद्रष्टा कहा गया है, तब क्यों नहीं वनमाली कृष्णको भी मन्त्रद्रष्टा माना जाय? यह मननीय विषय है। ८। ७४। ३-४ में कृष्ण ऋषिको 'स्तोत्र-परायण' और 'मेधावी स्तोता' कहा गया है। क्षत्रिय राजर्षि भी अनेक सूक्तोंके द्रष्टा हैं ही।

कृष्णके पुत्र विश्वकाय ऋषि सरल स्वभावके थे (१। ११६। २३)। इनके पुत्र विष्णाप्व नष्टप्राय थे, जिनकी रक्षा अश्विद्वयने की थी (१। ११७। ७)। कृष्णके पुत्र विश्वक ८। ७५ के ऋषि हैं। अश्विद्वयकी उपासनासे इन्हें विष्णाप्व पुत्र रूपमें प्राप्त हुए थे, जो इन्हींकी सहायतासे धनाढ्य हो गये थे (८। ७५। ३)। विश्वकाय और विश्वक एक ही पुरुषके दो नाम हैं।

[क्रमशः]

व्रतोत्सव-पर्व

श्रावण कृष्णपक्ष (२९-७-९९ से ११-८-९९ तक) सूर्य दक्षिणायन, वर्षा ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	गुरु	श्रवण	२९ जुलाई	अशून्यशयनव्रत (चन्द्रोदय रात्रि ७-३० बजे, इसके बाद पूजन), श्रावणमें शाकका त्याग, कुम्भराशिके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-४० बजेसे, पञ्चक आरम्भ रात्रि शेष ४-४०बजेसे
द्वितीया	शुक्र	धनिष्ठा	३० "	भद्रा रात्रि शेष ४-३४ बजेसे
तृतीया	शनि	शतभिषा	३१ "	भद्रा सायं ४-२० बजेतक, संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत (चन्द्रोदय रात्रि ९-०७ बजे)
चतुर्थी	रवि	पू०भा०	१ अगस्त	मीनके चन्द्रमा दिन ११-०६ बजेसे, लोकमान्य तिलक-पुण्यतिथि, सर्वार्थसिद्धियोग
पञ्चमी	सोम	उ०भा०	२ "	श्रावण-सोमवार-व्रत, सायं शिवजीका दर्शन-पूजन तथा रुद्राभिषेक
षष्ठी	भौम	रेवती	३ "	मेषके चन्द्रमा दिन ३-२२ बजेसे, भद्रा आरम्भ दिन १२-०९ बजेसे रात्रि ११-०७ बजेतक, पञ्चक समाप्त दिन ३-२२ बजे
सप्तमी	बुध	अश्विनी	४ "	शीतला-सप्तमी (उड़ीसा)
अष्टमी	गुरु	भरणी	५ "	वृषके चन्द्रमा सायं ६-०८ बजेसे, अष्टमी प्रातः ७-५० बजेतक तदुपरि नवमी तिथि रात्रि शेष ५-२४ बजेतक
नवमी	नवमी	तिथिका क्षय		
दशमी	शुक्र	कृत्तिका	६ "	भद्रा दिन ४-११ बजेसे रात्रि २-५६ बजेतक
एकादशी	शनि	रोहिणी	७ "	कामदा एकादशीव्रत (सबका), मिथुनके चन्द्रमा रात्रि ८-२६ बजेसे
द्वादशी	रवि	मृगशिरा	८ "	
त्रयोदशी	सोम	आर्द्रा	९ "	श्रावण-सोमवार-व्रत, सायं शिवजीका दर्शन-पूजन तथा रुद्राभिषेक, सोम-प्रदोषव्रत, आर्द्रा नक्षत्र प्रातः ६-०७ बजेतक तदुपरि पुनर्वसु नक्षत्र रात्रि शेष ४-४९ बजेतक, मास शिवरात्रिव्रत, कर्कके चन्द्रमा रात्रि ११-०९ बजेसे, भद्रा रात्रि ७-५७ बजेसे
चतुर्दशी	भौम	पुष्य	१० "	भद्रा प्रातः ६-५० बजेतक, गौरी-पूजन, दुर्गायात्रा, हनुमद्दर्शन, शुक्रास्त पश्चिममें रात्रि १२-३० बजे
अमावास्या	बुध	अश्लेषा	११ "	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, सिंहके चन्द्रमा रात्रि ३-०७ बजेसे, सूर्यग्रहण-ग्रस्तास्त (स्पर्श सायं ४-५२ बजे, मध्य ५-५५ बजे, सूर्यास्त ६-३० बजे, मोक्ष रात्रि ७-१० बजे, ग्रहणका सूतक १२ घंटे पूर्व लग जायगा)

श्रावण शुक्लपक्ष (१२-८-९९ से २६-८-९९ तक) सूर्य दक्षिणायन, वर्षा ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	गुरु	मघा	१२ अगस्त	चन्द्रदर्शन, श्रीविष्णुशिवात्मिकाभिषेकारम्भ
द्वितीया	शुक्र	पू०फा०	१३ "	
तृतीया	शनि	उ०फा०	१४ "	कन्याके चन्द्रमा दिन ९-१६ बजेसे, मधुश्रवा तीज, ठकुराइन तीज, भद्रा रात्रि २-१६ बजेसे
चतुर्थी	रवि	हस्त	१५ "	भद्रा दिन २-२३ बजेतक, स्वतन्त्रता-दिवस, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत
पञ्चमी	सोम	चित्रा	१६ "	श्रावण-सोमवार-व्रत, सायं शिवजीका दर्शन-पूजन तथा रुद्राभिषेक, नाग-पञ्चमी, सर्वार्थामृत-सिद्धियोग, तुलाके चन्द्रमा सायं ५-४७ बजेसे
षष्ठी	भौम	चित्रा	१७ "	मघा और सिंहके सूर्य रात्रि १०-५६ बजे
सप्तमी	बुध	स्वाती	१८ "	भद्रा सायं ५-५९ बजेसे, वृश्चिकके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-३१ बजेसे, गोस्वामी तुलसीदास-जयन्ती
अष्टमी	गुरु	विशाखा	१९ "	भद्रा प्रातः ६-५७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग
नवमी	शुक्र	अनुराधा	२० "	सर्वार्थसिद्धियोग
दशमी	शनि	ज्येष्ठा	२१ "	धनके चन्द्रमा सायं ४-२० बजेसे
एकादशी	रवि	मूल	२२ "	पुत्रदा एकादशीव्रत (सबका), भद्रा दिन १२-५० बजेसे रात्रि १-४४ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग
द्वादशी	सोम	पू०षा०	२३ "	श्रावण-सोमवार-व्रत, सायं शिवजीका दर्शन-पूजन तथा रुद्राभिषेक, दधिव्रतारम्भ, विष्णु-प्रतिमा-दान, मकरके चन्द्रमा रात्रि शेष ५-१० बजे
त्रयोदशी	भौम	उ०षा०	२४ "	भौम प्रदोषव्रत, (ऋण-मुक्ति-हेतु व्रतारम्भ) शुक्रोदय पूर्वमें रात्रि १०-४५ बजे
चतुर्दशी	बुध	श्रवण	२५ "	ऋग्वेदियोंकी श्रावणी, शिव-पवित्रारोपण,भद्रा रात्रि शेष ४-४९ बजेसे
पूर्णिमा	गुरु	धनिष्ठा	२६ "	भद्रा सायं ४-५१ बजेतक, रक्षाबन्धन सायं ४-५१ बजेके बाद, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, श्रावणीकर्म, संस्कृत-दिवस, अमरनाथ-यात्रा, पञ्चक आरम्भ प्रातः ६-१७ बजेसे

साधनोपयोगी पत्र

(१)

नारीका गुरु पति ही है

प्रिय बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि जब किसी भी पुरुषको गुरु बनाना और उनकी शरण लेना स्त्रीके लिये पाप है, तब भगवान्‌को गुरु बनाना और उनकी शरण होना भी तो पाप ही होगा? क्योंकि भगवान् भी तो परपुरुष हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि पतिव्रता स्त्रीके लिये तो शास्त्रोंकी यही आज्ञा है कि वह केवल पतिको ही गुरु माने और पतिमें ही परमेश्वर-बुद्धि करके उसकी सेवा करे। स्त्रीका गुरु एकमात्र पति ही है। बृहन्नारदीय पुराणमें कहा गया है—

भर्ता नाथो गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च।

(उत्तरभाग १४। ४०)

'पति ही स्वामी है, पति ही गति है, पति ही देवता और गुरु है।'

स्कन्दपुराण काशीखण्ड तथा ब्रह्मपुराणमें उल्लेख है—

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥

(४। ४८)

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥

(ब्रह्म० ८०। ४७)

'पति ही देवता, पति ही गुरु और पति ही धर्म, तीर्थ तथा व्रत हैं। इसलिये सबको त्यागकर एक पतिकी भलीभाँति सेवा-पूजा करे।'

'ब्राह्मणोंके लिये अग्नि गुरु है, वर्णोंमें ब्राह्मण गुरु है, स्त्रियोंका पति गुरु है और अभ्यागत सबका गुरु है।'

भगवती सीताजीने कहा है—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

(वा० रा० ७। ४८। १७)

'नारी (स्त्री)-के लिये तो पति ही देवता, पति ही बन्धु तथा पति ही गुरु है। अतएव प्राण देकर भी नारीको विशेषरूपसे पतिका प्रिय कार्य करना चाहिये।'

पद्मपुराणमें पतिव्रताशिरोमणि देवी सुकलाके इतिहासमें भगवान् विष्णुके राजा वेनके प्रति वचन हैं—

भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता देवतैः सह।
भर्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दन॥

(भूमि० ४१। ७५)

'राजन्! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्ट देवता एवं पति ही तीर्थ तथा पुण्य है।'

इसलिये स्त्रीको पतिरूपमें ही परमेश्वरकी सेवा करनी चाहिये। तथापि स्त्री यदि भगवान्‌की पूजा-अर्चना करे तो उसमें कोई दोषकी बात नहीं है; क्योंकि भगवान् सबके अन्तरात्मा हैं, प्रियतम हैं, स्वामी हैं, सद्‌गुरु हैं तथा सर्वस्व हैं। अतएव परमात्माकी सेवासे सतीत्वमें कोई बाधा नहीं आती, वे परपुरुष नहीं हैं, वे तो अपने आत्मा ही हैं। हाँ, परमात्मा बननेवाले मनुष्योंसे जरूर सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वे निश्चय ही परपुरुष हैं और उनकी सेवासे सतीत्वकी मर्यादापर आघात लगना सम्भव है। अपने लिये तो भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'अर्जुन! पापयोनिवाले प्राणी भी हों तो वे भी तथा स्त्री, वैश्य और शूद्रादि भी मेरे शरण हो जायँ तो वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये भगवान्‌की उपासनामें कोई पाप नहीं है, वरं भगवान्‌की उपासना ही परम धर्म है। स्त्रीको पतिकी उपासना भी भगवान्‌की उपासनाके रूपमें ही करनी चाहिये—भोग प्राप्त करानेवाले किसी मनुष्य-विशेषके रूपमें नहीं। यही नारी-धर्म है। इस नारी-धर्ममें श्रद्धा-विश्वास तथा सत्यताके साथ लगी हुई स्त्रीको इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

स्वतन्त्र विवाह

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने कालेजमें शिक्षा प्राप्त करनेवाली एक सत्रह वर्षकी क्षत्रिय-कन्या और उन्नीस वर्षके ब्राह्मण-युवकमें प्रेम होने, उनके परस्पर विवाह करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करने और कन्याके अभिभावकोंके द्वारा इसके विरुद्ध मत प्रकट करनेकी बात लिखकर मेरी सम्मति पूछी, इसके लिये धन्यवाद। सच बात यह है कि इस प्रकारकी चीज वस्तुतः प्रेम है ही नहीं, यह तो मोहका आकर्षण है, जो हमारे आजकलके कालेजोंकी शिक्षा और संसर्गका कटुफल है। यह आर्यनीति नहीं है, एक प्रकारका यथेच्छाचार है, जो सर्वथा त्याज्य है। विवाहका सर्वोत्तम निर्णय माता-पिताके द्वारा ही होता है और यदि ये दोनों युवक-युवती धर्म तथा सदाचारकी रक्षा करना चाहें एवं यथार्थ प्रेमका भी आदर करें तो उन्हें अपने माता-पिताके इच्छानुसार विवाहका आग्रह छोड़ देना चाहिये और अपने पवित्र प्रेमको—भाई-बहिनके पवित्र प्रेमकी भाँति आजीवन निबाहना चाहिये। इसीमें सब प्रकारसे मङ्गल और कल्याण है।

पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें परस्पर अभीतक केवल मन-वाणीका ही व्यवहार है या शारीरिक दोष भी आ चुका है, क्योंकि आजकल ऐसी घटनाएँ बहुत होती हैं और हमको दूसरे कई युवक-युवतियोंके ऐसे पत्र भी मिले हैं। जिनमें स्पष्टरूपसे इस दोषको स्वीकार करके आगेके लिये राय माँगी गयी है। यदि यहाँ ऐसी बात हो चुकी हो अथवा वे दोनों किसी प्रकार भी अपना मत बदलनेको राजी न हों तो वैसी अवस्थामें या तो कन्याके अभिभावकोंको, स्वयं कन्या या अन्य कोई सज्जन, जिनका उनपर प्रभाव पड़ता हो, समझाकर इस धर्म-संकटकी स्थितिमें उनकी अनुमति प्राप्त कर लें। यदि अनुमति न मिले और मत बदलने योग्य स्थिति भी सर्वथा न हो तो वे घरवालोंसे सम्बन्ध तोड़कर अपना विवाह इच्छानुसार कर लें। बालिग लड़कीको कानूनन कोई रोक नहीं सकता। अवश्य ही ऐसा करना संस्कृति और धर्म तथा सदाचारकी दृष्टिसे उचित तो नहीं है। यह मेरा स्पष्ट मत है।

कन्याके अभिभावकोंसे भी मेरा नम्र निवेदन है कि वे परिस्थितिको भलीभाँति समझ लें। यदि कन्यामें कोई दोष घट चुका हो या कन्या किसी प्रकारसे भी अपना मत बदलनेको तैयार न हो तो उसे इच्छानुसार करनेके लिये स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। इस उम्रके युवक बच्चे तो हैं नहीं, जो आपकी डाँटसे मान जायँगे। घर तथा इज्जतका उन्हें खयाल होता तो वे ऐसी बात उठाते ही नहीं। ऐसे प्रसङ्गोंमें यह निश्चय तो पहले ही कर लिया जाया करता है कि चाहे कुछ भी हो, हम अपनी बातपर डटे ही रहेंगे। सारे बन्धनोंको तोड़कर ही तो प्रेमको निभाना है। (यद्यपि वस्तुतः यह प्रेम नहीं है, है वासना ही।) अतएव मान-इज्जतकी दृष्टिसे भी आप उन्हें नहीं रोक सकते। असवर्ण-विवाहकी अशास्त्रीयताका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि ऐसे युवक-युवतियाँ इन शास्त्रोंको भी प्रमाण नहीं मानते। ऐसी अवस्थामें कन्याके स्नेहवश अथवा उसका जीवन सुखी बनानेके लिये ही अपने मन तथा मतके एवं कुटुम्बकी रीति-नीतिसे सर्वथा विरुद्ध होनेपर भी उसे विवाहकी अनुमति दे देना ही उचित मालूम होता है। इसे आपद्धर्म समझना चाहिये। इसके विपरीत करनेसे तो वे मानेंगे ही नहीं, किसी प्रकारकी दूसरी बड़ी बुराई भी उत्पन्न हो सकती है।

सच्ची बात तो यह है कि जवान लड़कियोंको कालेजोंमें पढ़ाना तथा लड़कोंसे अबाध मिलने-जुलने देना ही इस प्रकारकी बुराइयोंकी जड़ है। माता-पिता पीछे पछताते हैं (और ऐसे युवक-युवतियोंको भी मनमानी करनेपर भविष्यमें बहुत पछताना पड़ता है—इसके प्रमाण मेरे पास हैं), पर उच्च शिक्षाके नामपर लड़कियोंके जीवनका सर्वनाश करने और उन्हें विषय-वासनाकी जलती भट्ठीमें झोंक देनेसे बाज नहीं आते। यही मोह है और फल तो वही होगा, जैसे बीज बोये जायँगे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)
विपत्ति-हरण

'हम बारातमें सवा सौ व्यक्तियोंसे कम नहीं ला सकते!' भावी समधीके इन शब्दोंके साथ ही चिन्ताकी अमिट रेखाएँ मेरी मुखाकृतिपर अंकित हो उठीं; परंतु विवशता मेरे साथ थी। प्रभु-स्मरणके साथ ही जहरका घूँट पीते हुए, एक साथ उमड़ पड़नेवाले आँसुओंको रोकते हुए कहना पड़ा, 'अच्छा साहब' और विवाह-तिथि तय हो गयी।

समयानुसार मैं केवल पचीस व्यक्तियोंके पक्षमें था, यद्यपि मेरी स्थिति इतनोंको भी केवल एक समय अल्पाहारमें ही निबटा देनेमात्रकी थी; परंतु सामाजिक कीड़ा होनेके नाते समाजका यह आग्रह मुझपर था।

'अच्छा' कह चुकनेके बाद अब चिन्ता थी व्यवस्थाकी। जिन व्यक्तियोंको मैं अपना समझे बैठा था और मुझे जिनपर दृढ़ विश्वास भी था, मैंने उनको स्थितिसे पूर्णतया अवगत करा दिया। कुछ मुझपर हँसे, कुछने बेवकूफ बताया, कुछेकने सहानुभूति भी दिखलायी; पर सबका संक्षिप्त उत्तर था, 'है ही नहीं, भाई क्षमा करें।'

ज्यों-ज्यों समय निकटतम होता जाता था, मैं सूखा जाता था। प्रश्न था सामाजिक इज्जतका; पर कहीं भी आशा-रश्मि-तक दृष्टिगोचर नहीं हो पा रही थी। सारांश 'प्रभु-स्मरण'-के अतिरिक्त अब और कोई साधन अवशेष नहीं रह गया था।

मैं अपनी 'ड्यूटी' पर जा रहा था, बसमें बैठा यही सोच रहा था कि वहाँ जाकर लिख दूँगा, 'बहिनकी शादी अभी छुट्टियाँ न मिल सकनेके कारण नहीं कर सकूँगा।' इन्हीं विचारोंको दृढ़कर पुनः प्रभु-चिन्तनमें मग्न हो गया।

अकस्मात् बस नसीराबाद स्टैंडपर रुकी, मैं गाड़ीसे उतर पड़ा। उतरते ही मेरे पूर्वके प्र०अ० श्रीगोवर्धनसिंहजी मेरी ओर ही आये। उनके पास आते ही उचित शिष्टाचार भी न हो सके कि आँखें स्वतः टप-टप बरसने लगीं; यह दृश्य देखकर वे भी स्तम्भित-से रह गये। आखिर मैंने सब बातें उनसे बतायीं, यद्यपि मेरी-जैसी ही उनकी स्थिति होनेके कारण मुझे शंका बराबर होती जा रही थी। मेरी बात समाप्त होते ही उन्होंने मेरे हाथपर·····सौंप दिये और आप स्वयं न जाने कहाँके लिये और किस कामके लिये बसपर चढ़ गये। मैं अवाक् रह गया। चढ़नेके बाद उन्होंने हाथ हिलाया, तब उनके मोती भी आँखोंसे बाहर निकल चुके थे। मैंने नीचा मस्तक किये ही उनमें साक्षात् विपत्ति-हरण 'गोवर्धनधारी'-के दर्शन किये। कुछ साहस बँधा, फिर जहाँ-कहीं जानेका साहस करता, स्वतः उस गोवर्धनधारीका स्वरूप हृदयके अन्तरङ्गमें दिग्दर्शित हो उठता, तब फिर किसीने 'नहीं' नहीं किया; फलतः शादी सकुशल सम्पन्न हो गयी।

मेरे हृदय-पटलपर वह विपत्ति-हरण 'गोवर्धनधारी' अब भी ज्यों-के-त्यों अंकित हैं। महाप्रभु गोवर्धनधारीकी जय!

—श्रीजौहरीलालजी जैन

(२)
अनजाने पापका बदला

पापोंके अपार समूहको लेकर जिस समय मैं कुम्भ-मेलेके लिये तैयार हुआ, उस समय पल-पलपर तामसीवृत्ति अपना अधिकार बढ़ाती चली जा रही थी। प्रारम्भमें ही ऐसी-ऐसी अड़चनें खड़ी हो गयीं, जो कुम्भ-मेलेके प्रस्थानका अवरोधन करने लगीं, फिर भी पापमोचनके लिये मैं चल पड़ा। कानपुर स्टेशनपर इतनी अधिक भीड़ थी कि उसे देख वहींसे लौटनेका इरादा करने लगा, किंतु स्नानकी प्रबल इच्छा जाग्रत् हो उठी और चार बजेके लगभग एक ट्रेनके दरवाजेपर खड़े-खड़े ही संगमकी यात्राके लिये चल पड़ा। मनौरी स्टेशनके समीप कुछ जाटोंने मुझे डिब्बेसे नीचे उतरनेके लिये लाचार कर दिया। अतः उक्त स्टेशनपर मैं एक निराश्रितकी भाँति अन्धकारमें इधर-उधर टहलने लगा। इतनेमें एक भीड़ आयी और उसीके साथ मैं भी फिर उसी डिब्बेमें प्रविष्ट हो सका। इलाहाबाद स्टेशनपर गाड़ी रुकी और रात्रिके लगभग दो बजेके यात्रियोंके विशाल समूहके साथ स्नानके लिये संगम-तटपर रवाना हो गया।

अभी सबेरा होनेमें काफी देर थी। अस्तु, मैं गङ्गाके तटपर कम्बल ओढ़कर बैठ गया। सहस्रों यात्री स्नान करके लौट रहे थे, किंतु मेरे पाप मुझे स्नान करनेसे रोकते रहे और मैं घुटनोंमें सिर रखे सोता रहा। सूर्योदय होनेपर स्नान

कर सका। इधर-उधर घूमता हुआ बाँधरोडके करीब खड़ा हुआ, नागा-साधुओंका दृश्य देखता रहा।

इधर भीड़ बढ़ती गयी और नागा-साधुओंके जाते ही स्नानार्थी और स्नान करके जाते हुए मनुष्योंसे त्रिवेणी-क्षेत्र व्याप्त हो गया। मैंने अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। कुछ आदमी तारके खम्भोंपर चढ़े जा रहे थे। कुछ भीड़से दबते हुए पुकार उठे—मुझे बचाओ, मैं दब रहा हूँ।

मैंने भी समझ लिया कि मेरी मृत्यु असमयमें आ गयी। यहाँ कोई मेरा साथी भी नहीं है, जो मेरे घरमें खबर कर सकेगा। अत: मैंने किलेके पास भूमिशायी हनुमान्‌जीसे जीवन-रक्षाकी प्रार्थना की।

भीड़में ठेल-पेल हो रही थी और मानव-समूह एक तरंगित सागरकी भाँति हिलोरें ले रहा था। मेरे समीप ही दस-बारह मनुष्य ढेर हो गये और अन्तमें मैं भी गिर पड़ा। उस समय मेरा बायाँ हाथ एक अधेड़ और शक्तिहीन मनुष्यकी गर्दनपर पड़ा। मैंने बिना उसकी परवा किये हुए उठ खड़े होनेके लिये पूरी शक्ति लगायी और भीड़को गिरनेसे रोकते हुए उठ खड़ा हुआ।

मेरे इस अनजाने पापने अपना रूप स्थिर कर लिया; क्योंकि मैंने केवल अपने जीवन-रक्षार्थ ही प्रयत्न किये थे। 'दूसरा मरे अथवा जिये' इसकी मुझे चिन्ता नहीं रही। सम्भव है, वह आदमी उठ खड़ा हुआ हो, किंतु उसकी याद मुझे बराबर सताती रही और मेरा हृदय मुझे चुपके-चुपके कोसता रहा। यद्यपि मैं जान-बूझकर उसके ऊपर नहीं गिरा था, किंतु फिर भी अनजानेका यह पाप याद आनेपर सशंकित कर देता था।

कालान्तरमें मैं उसे बिलकुल भूल गया। इधर मेरा एक वर्षीय लड़का चेचकके प्रकोपसे मर गया। मुझे हार्दिक दु:ख हुआ।

मैंने अपने जीवनके पापोंपर एक विहंगम-दृष्टि दौड़ायी तो प्रयागके कुम्भ-मेलेवाले व्यक्तिकी स्मृति जाग उठी। कारुणिक भावनाओंसे हृदय भर गया। वह बालक बहुधा, जब मैं उसे गोद लेता था तो वह मेरी दाढ़ी और मूँछपर हाथ फेरकर पहचाननेकी कोशिश किया करता था। अत: अन्तर्ध्वनि होने लगी—'ऐ दाढ़ी और मूँछोंवाले आदमी! मैं तुझे पहचानकर तेरे घरपर बदला लेनेके लिये आया हूँ। तूने मेरी उपेक्षा कुम्भ-मेलेमें की थी।'

मृत्युके पाँच दिन पहले वह चबूतरेकी सीढ़ीपर लुढ़कता हुआ गिर पड़ा, जैसे वह घरसे जानेका संकेत कर रहा हो। मैं तुरंत दौड़ पड़ा और उसे जिसे कुम्भ-मेलेमें न उठा सका था, गोदमें उठा लिया। हृदयमें दुश्चिन्ताकी रेखा खिंच गयी कि क्या यह हँसता हुआ स्वस्थ बालक बाहर जानेकी तैयारीमें है?

मृत्युके दिनपर मेरे हृदयमें अनेक प्रकारकी व्यथाएँ उभर रही थीं। वह अनोखे पश्चात्ताप और अभावोंसे ग्रस्त था। शामको मैं स्कूल समाप्त करनेके पश्चात् तेजीसे घरकी ओर जा रहा था। कौओंके झुंड उड़-उड़कर मार्गपर बैठकर पुन: उड़ जाते थे। गाँव पहुँचनेपर मेरा हृदय पुकार उठा कि कोई मुझसे यह न कह दे कि तुम्हारा लड़का मर गया है, किंतु दरवाजेपर रोनी सूरत बनाये लोग बैठे थे। मैं सीधा घरके अंदर प्रविष्ट हुआ, वहाँ मैंने उस लड़केको देखा जिसकी आँखें उलट रही थीं। उसने भी मुझे पहचाना। मैंने उसे उठाकर कंधेपर लगा लिया। उस मरणासन्न प्राणीने अपना हाथ मेरी दाढ़ी और मूँछोंपर फिराकर मेरे हृदयके घावको हरा कर दिया।

मैंने उसकी अन्तिम यात्राके लिये गङ्गाजल, तुलसी और रामके चित्रको उसके सामने उपस्थित कर दिया और रामायणको सिरहाने रखकर उसी बायें हाथपर, जिसके द्वारा कुम्भके अवसरपर अपरिचित व्यक्तिकी गरदनका सहारा लेकर खड़ा हुआ था, उस लड़केका सिर रख लिया। वह आरामसे सोने लगा। मैंने एक चम्मच गङ्गाजल उसे पिलाया। गलगलका शब्द होने लगा। उसके सिरको थोड़ा ऊँचा किया, जिससे जल तो प्रविष्ट हो गया, किंतु गरदन छोड़नेपर वह लुढ़क पड़ी। इस प्रकार यह अनजानेका पाप रूप धारणकर करोड़ों आदमियोंके बीचमें मुझे पहचानकर अपना बदला लेकर चला गया। मैं उसके साथ अन्तिम क्रियाके लिये नदीके तटपर गया। उसका मुख बदल चुका था और जहाँतक मुझे स्मरण आता है, ठीक उसी अधेड़ व्यक्ति-सा मुख था, जो कुम्भ-मेलेमें मानव-ढेरपर गिरा था और जिसकी गरदनका सहारा लेकर मैं खड़ा हुआ था। इस प्रकार अनजानेका पाप भी समय आनेपर अपना बदला चुका लेता है। इससे मनुष्योंको सावधान होनेकी आवश्यकता है।

—श्रीरामधीनजी 'शान्त'

(३)
रामरक्षास्तोत्र तथा सुन्दरकाण्डके पाठसे संकट-मुक्ति

(१)

भगवत्कृपा, मन्त्र-जप एवं स्तोत्र-पाठकी अपरम्पार महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। दैनिक जीवनमें उसका अमोघ प्रभाव भी देखा गया है। इसी महिमाका साक्षात्कार मुझे अपने संकटोंमें एवं अन्य मित्र-जनोंके साथ घटी घटनाओंमें हुआ। रामरक्षास्तोत्र एवं सुन्दरकाण्डके पाठकी महिमा-सम्बन्धी कतिपय घटनाएँ मेरे समक्ष इस प्रकार घटित हुईं—

हम दो भाई हैं। उनमें मैं छोटा हूँ। हमारे माता-पिता धार्मिक प्रवृत्तिके थे। उनके संस्कार हमें भी मिले। माता-पिता चाहते थे कि हम दोनों भाई जीवनभर मिलकर एक साथ रहें। उन्होंने हम दोनों भाइयोंका विवाह दो सगी बहिनोंसे कर दिया। माता-पिता सोचते थे—सगी बहिनें भी आपसमें मिलकर रहेंगी। मेरे विवाहके बाद हम दोनों भाई लगभग बीस वर्षतक मिलकर रहे। हम दोनों प्राथमिकशालामें शिक्षक थे। मैं अपना वेतन तथा अन्य राशि लाकर भाईके हाथमें रख देता था। भाई घरकी जरूरतें पूरी करते। पिताके स्वर्गवासके पश्चात् मैंने उन्हें पिताके समान समझा और गृहस्थीकी चिन्ताओंसे मुक्त रहा। कालान्तरमें मुझे सात संतानें हुईं, तीन पुत्रियाँ और चार पुत्र। भाईके एक पुत्र हुआ, परंतु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। पुत्रकी मृत्युके पश्चात् बारह वर्षतक भाईके कोई संतान नहीं हुई। बारह वर्ष बाद उनके भी दो पुत्र हुए।

संतान बड़ी होने लगी तो मैंने सोचा—भाई बच्चोंकी पढ़ाई तथा ब्याह-शादीके लिये कुछ-न-कुछ बचत करते होंगे। मैंने कभी हिसाब पूछने तथा कुछ कहनेकी आवश्यकता न समझी, पर भाभीके विचार बदलने लगे। उन्होंने पतिको बहका-फुसलाकर मुझे तथा मेरे परिवारको एक दिन अलग कर दिया। भाईने कहा—तुम्हारा परिवार बड़ा है और खर्च भी अधिक है, अतः तुम अपना खर्च स्वयं उठाओ। तब मैंने बचतकी राशिमें हिस्सा माँगा तो उन्होंने कुछ भी देनेसे इनकार कर दिया। वास्तवमें भाई कुछ-न-कुछ प्रतिमाह बचा लेते थे और चुपचाप बैंकके अपने खातेमें जमा कर आते थे, जिसकी मुझे कोई जानकारी न थी।

मुझे उनके इस व्यवहारसे बड़ा दुःख हुआ, पर अपनी धर्मपत्नीके धैर्य बँधानेपर मैं प्रभुका नाम लेकर अपनी गृहस्थी चलाने लगा। मैंने कभी 'कल्याण' के मासिक पत्रिकामें पढ़ा था कि रामरक्षास्तोत्र एवं सुन्दरकाण्डका श्रद्धापूर्वक नियमित पाठ करनेसे मनुष्यके सब संकट दूर होते हैं और समस्त शुभ मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं। तब मैं बाजारसे रामरक्षास्तोत्र एवं सुन्दरकाण्डकी पुस्तक खरीद लाया और प्रतिदिन प्रातः स्नानके बाद श्रद्धापूर्वक उनका पाठ करने लगा। नियमसे श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन उक्त दोनोंका पाठ करनेसे मनको बड़ी शान्ति प्राप्त हुई और साहस बँधा कि मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे प्रभु राम मेरे साथ हैं और वे ही मेरे इतने बड़े परिवारकी नैया पार लगावेंगे। मैं शहरमें ही पदस्थ था, परंतु अचानक सन् १९७६ में मेरा स्थानान्तरण देहात-क्षेत्रकी शालामें हो गया। मैंने स्थानान्तरण रुकवानेका काफी प्रयास किया, पर सफल न हुआ। अन्तमें प्रभुका नाम लेकर पढ़ानेके लिये ग्राम जाने लगा। मुझे रोज १८ कि०मी० साइकिलसे जाना पड़ता था। प्रभुने मुझे साहस दिया और मैं उनका स्मरण करते हुए जाने-आने लगा। इसी बीच एक पहुँचे हुए महाशयसे भेंट हुई, जिन्होंने बताया कि मुझे तीन वर्ष यह कष्ट उठाना होगा। उनकी बात सच हुई। तीन वर्ष बाद पुनः मेरा स्थानान्तरण अपने गृह-नगरमें हो गया और प्रभुकी असीम अनुकम्पासे अच्छी शालामें, अच्छे लोगोंके बीच कार्य करनेका पुनः सुअवसर मिला। मेरे बच्चे उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगे। मैंने पुत्री तथा पुत्रमें कभी भेदभाव नहीं किया। पुत्रियोंने भी प्रभुकी कृपासे उच्च शिक्षा प्राप्त की। अब मुझे अपनी पुत्रियोंके विवाहकी चिन्ता थी। मैंने यह भार भी प्रभुको सौंपा और स्वयं निश्चिन्त हो गया। दयालु प्रभुकी महिमा अपरम्पार है। उनकी असीम अनुकम्पा एवं अहैतुकी कृपासे तीनों पुत्रियोंके विवाह सानन्द सम्पन्न हो गये। आज वे अपने-अपने परिवारमें सुखी हैं। इन समस्त संकटोंसे उबरनेका मेरा एकमात्र सम्बल रामरक्षास्तोत्रका एवं सुन्दरकाण्डका पाठ ही था।

(२)

मुझे एक वृद्ध शिक्षक मिले। वे बहुत दुःखी थे। मेरे

पूछनेपर उन्होंने कहा—मेरी दो पुत्रियाँ विवाह-योग्य हो गयी हैं, पर विवाहकी बात तय नहीं हो पाती। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि मैंने मकानके एक भागमें एक किरायादार रखा है। प्रारम्भमें तो वह व्यक्ति तथा उसकी पत्नी ठीक-ठाक रहे, पर अब रोज किसी-न-किसी बातसे झगड़ा करते हैं। समझानेपर भी नहीं मानते। अब न किराया देते हैं और न मकान खाली करते हैं। न्यायालयमें जानेका साहस नहीं है। उन्होंने मुझसे पूछा—बताइये, मैं क्या करूँ?

मैंने उन्हें सलाह दी कि यदि आपका भगवान्‌पर विश्वास है तो आपको अवश्य न्याय मिलेगा। आप स्वयं तथा आपकी पुत्रियाँ प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके सुन्दरकाण्डका पाठ श्रद्धापूर्वक करें और प्रभुसे अपने संकट दूर करनेकी प्रार्थना करें तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रभु अवश्य आपपर दया करेंगे और आपको सभी संकटोंसे मुक्त कर देंगे। चार-छः माहमें चमत्कार हो गया। किरायेदारको प्रभुने सद्बुद्धि दी और वह घर खाली कर चला गया। इधर उनकी पुत्रियोंके रिश्ते आने लगे और दोनों कन्याओंका प्रभु-कृपासे सानन्द विवाह सम्पन्न हो गया। वे महाशय अब ईश-कृपासे निश्चिन्त हैं और प्रभुके गुण गाते हैं।

(३)

इसी प्रकार एक बहिन अपने शराबी पतिसे बहुत पीड़ित थी। उसके तीन छोटे-छोटे बच्चे भी थे। पति ठीकसे कमाई नहीं करता था और जो कुछ करता, वह शराबमें फूँक देता। पत्नी-बच्चोंके भूखों मरनेकी उसे कोई चिन्ता न थी। एक दिन उस बहिनने अपना दुःख मुझे सुनाया। मैंने उसे धैर्य बँधाया और सुन्दरकाण्डका नियमित पाठ करने तथा एक कापीमें राम-नाम लिखनेकी सलाह दी। मैंने कहा—श्रद्धा और विश्वाससे यदि यह कार्य करोगी तो तुम्हारा संकट अवश्य दूर होगा। उस बहिनने श्रद्धा और विश्वाससे सुन्दरकाण्डका पाठ किया। वह बहिन पढ़ी-लिखी थी। थोड़े समय बाद ही उसे शिक्षिकाकी नौकरी मिल गयी। आज उसका परिवार सुखी है।

रामरक्षास्तोत्र एवं सुन्दरकाण्डके श्रद्धापूर्वक पाठकी महिमा अपार है। मैं भी सपरिवार प्रभुकी कृपासे आनन्द-मङ्गलसे हूँ तथा प्रतिदिन रामरक्षास्तोत्र तथा सुन्दरकाण्डका प्रेमपूर्वक पाठ करता हूँ। जय श्रीराम!

—श्रीरणजीतसिंहजी शाह 'शिक्षक'

(४)

बवासीर एवं बादी मस्सोंकी दवा

नारियलके ऊपरकी भूरी जटामेंसे रेशे जो काटकर फेंक दिये जाते हैं, वे लाकर उन्हें एक माचिसकी तीलीसे जला देवें—फौरन जल जायगी, जल जानेके बाद काफी राख हो जावेगी; सो छानकर एक चम्मच (चायकी) एक प्लेट अन्दाज रातका जमाया हुआ दूधका दही सुबह हो जायगा, उसमेंसे एक कटोरी अन्दाज लेकर उसमें अच्छी तरह घोल देवें—उसमें मसाला शक्कर कुछ न डाले, निरणावासी सुबह उठते ही बिना और कुछ पिये-खाये इसे पी जावें। एक-डेढ़ घण्टा बाद चाय, दूध नाश्ता कर सकते हैं। दिनमें दो बार भी कर सकते हैं। दो-तीन खुराकमें रोग जड़से मिट जावेगा। खून बन्द हो जावेगा—मस्सेकी गोलियाँ अंदरतकको सूख जावेगी—अधिक-से-अधिक तीन चार दिनोंमें तो रोगका नामोनिशान भी नहीं रहना चाहिये। यह अनुभूत औषधि है।

(५)

मधुमेहका इलाज

१-जामुनके हरे पत्ते, २-हरे नीमके कड़वे पत्ते, ३-बिल्वपत्रके पत्ते तथा तुलसीके पत्ते सब सुखा लेवें। अलग-अलग लेकर समभागमें सूखे पत्तोंको पीसकर मिला देवें। रोज चायकी चम्मचसे एक चम्मच पाउडर सुबह पानीसे पी लेवें। लेनेके पहले कितना शक्कर थी—दस दिन बाद शक्करकी निगह करवा लेवें—३००-४०० होगा तो १५० अन्दाज आ जाना चाहिये। इसे लेते रहनेसे चीनी शरीरमें नियन्त्रित रहती है। कइयोंको लाभ हुआ है। मैं तो सबको मुफ्त दवा बनाकर देता हूँ, आप चाहो तो एक पैकेटमें बनायी हुई आपको भी भेज सकता हूँ—जिसे हो उसे देकर आजमा लेवे। ऐसे रोगी बहुत हैं, रोग मिट जायेगा ऐसी बात नहीं है। ओषधि लेते रहनेसे रोग कम रहेगा, परीक्षित है।

[प्रेषक—श्रीबजरंगलाल सिंघानिया]

मनन करने योग्य

नमककी महिमा

यह उन दिनोंकी बात है जब उत्तर भारतमें जहाँ-तहाँ रेलवे लाइनें बन चुकी थीं और कई जगहोंपर बन रही थीं, पर बेतिया (चम्पारन)-से सीवान (सारन)-तक अभी भी कोई सीधी लाइन नहीं थी, ऐसे तो मुजफ्फरपुर होकर बेतिया जाया जा सकता था, लेकिन उन दिनोंमें सीवानसे बेतिया जानेके लिये केवल स्थल-मार्ग था और वह भी गंडकी नदी पार करके जाना होता था।

मेरे पितामह गाढ़ा बेचने प्रायः बेतिया जाया करते थे। उन दिनों रुपयेके नोट नहीं छपते थे। केवल रुपयेके सिक्के चलते थे। जिनको व्यापारी लोग डोड़ों—न्योलीमें (जो एक प्रकार पतली और लम्बी कपड़ेकी थैली होती है) रुपये रखकर और उसे अपने कमरमें बाँधकर तथा ऊपरसे धोती आदिसे ढककर एक जगहसे दूसरी जगह चलते थे। मेरे पितामह भी उसी प्रकार डोड़ों (न्यौली)-में रुपये रखकर और उसको कमरमें बाँधकर बेतियासे सीवान आ रहे थे।

बेतियामें एक चोरको इस बातका भेद मालूम हो गया कि मेरे पितामहके पास पूरा रुपया है, जो कमरमें बाँधकर ले जा रहे हैं। वह रास्तेमें चोरी करनेके विचारसे मेरे पितामहके साथ व्यापारीका भेष बनाकर लग गया। जल्दीमें जो साथ लगा तो अपने साथ रास्तेमें खानेके लिये कुछ सत्तू रख लिया और मेरे पितामहके पीछे-पीछे चल पड़ा। मेरे पितामहको उस रास्ते बराबर आना-जाना पड़ता था, रास्तेकी स्थितिकी पूरी जानकारी थी। अतएव वे अपने साथ खानेके लिये सत्तू आदिके साथ नमक, मिर्च, खटाई, चटनी, अचार आदि थोड़ी-थोड़ी मात्रामें रखे रहते थे और जहाँ जैसा मौका होता, उससे काम चलाते थे।

रास्तेमें एक स्थानपर, जहाँ एक कुँआ और कुछ पेड़ थे, मेरे पितामह ठहर गये और वहीं भोजन आदिकी व्यवस्था करने लगे। कुछ देर आराम करनेके बाद उन्होंने अपनी झोलीसे सत्तू निकाला और सत्तूमें नमक मिलाकर और पानीसे सानकर चटनी, खटाई आदिसे खानेके लिये बैठ गये। चोर भी जो पीछे-पीछे लगा था, वहीं उनको रुका देखकर रुक गया और उसने भी अपनी झोलीसे सत्तू निकाला, लेकिन उसके पास सत्तूके साथ खानेके लिये नमक, मिर्च, खटाई आदि नहीं थे। खानेका समय हो गया था और उस निर्जन स्थानपर ये सब आवश्यक वस्तुएँ मिल जायँ, ऐसी सुविधा नहीं थी। वह चोर चिन्तित-सा था। मेरे पितामह समझ गये कि इस व्यक्तिके पास सत्तू खानेका आवश्यक साधन नहीं है और इसी उधेड़-बुनमें वह पड़ा है, अतएव बिना उसके माँगे मेरे पितामहने अपने पाससे आवश्यक सामान—नमक, अचार, चटनी आदि उसको सत्तू खानेके लिये दे दिये। पहले तो वह इनकार करता रहा, लेकिन मेरे पितामहके आग्रह और वहाँ दूसरी व्यवस्था उपलब्ध न होनेके कारण उसने उन आवश्यक सामानोंको ले लिया और अपना सत्तू खाया।

भोजन समाप्त होनेके पश्चात् जब पुनः आगे प्रस्थान करनेके लिये मेरे पितामह तैयार हुए तो वह व्यक्ति मेरे पितामहके सामने हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा और बोला कि—'मैं व्यापारी नहीं हूँ बल्कि आपके रुपयोंको चुरानेके लिये साथ लगा हुआ चोर हूँ; लेकिन आपने मुझे अपना नमक खिला दिया। इसलिये मेरा धर्म अब कुछ दूसरा हो गया है। अब मैं आपके रुपयोंकी चोरीका इरादा छोड़कर बेतिया वापस जाता हूँ।'

मेरे पितामहको उसकी बातें सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उनके मनमें यह भाव आया कि जब इसके मनमें इस प्रकार धर्म-भाव है तो जरूर किसी विवशतावश ही यह चोरी आदि कुकर्म करनेका घृणित विचार अपने मनमें लाया है, इसलिये इसके विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त करनी चाहिये और इसके चरित्रको सुधारना चाहिये। मेरे पितामह आग्रह करके उस व्यक्तिको अपने साथ सीवान ले आये और कुछ दिनोंतक अपने यहाँ रखकर उससे व्यापार करनेका वचन लिया और बादमें उसको अपनी ओरसे कपड़ा देकर बेतियामें दुकानदारी करा दी। बहुत दिनोंतक वह व्यक्ति बेतियामें अपनी दूकान करता था और मेरे पितामहसे व्यापारिक सम्बन्ध रखता था और इस प्रकार थोड़ेसे उत्तम विचारने उसको गिरनेसे बचा दिया।

—श्रीरामकृष्णप्रसादजी

कुछ विशिष्ट प्रकाशन

भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका श्रवण और पठन-पाठन भगवद्भक्ति तथा भगवद्विश्वासका दिव्य स्रोत है। प्रस्तुत पुस्तकके इस नवीन संस्करणको भगवान् श्रीकृष्ण, कारागारमें श्रीकृष्णावतार, मथुरासे गोकुलकी ओर, चाँद-खिलौना, माखन लेनेकी अनोखी रीति आदि बाल-लीलाके नौ मनोरम कथाओंसे सँवारा गया है। कथाकी भाषा, शैली इतनी सरल तथा रोचक है कि आबाल-वृद्ध सभी लोग श्रीकृष्णकी बाल-लीलाके सरस प्रसंगोंका सहज ही आनन्द उठा सकते हैं। प्रत्येक कथाके साथ उसके दाहिने पृष्ठपर सुन्दर आर्ट पेपरपर कथासे सम्बन्धित आकर्षक चित्र दिये गये हैं।

गोपाल (कोड नं० 870) परिवर्तित एवं परिवर्धित संस्करण

भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाललीलाएँ परम मंगलमयी और अमृतस्वरूप हैं। उनके पठन-पाठनसे सात्त्विक गुणोंके उद्भवके साथ मनमें सहज ही भगवद्भक्तिका सञ्चार होता है। गोपाल चित्रकथाके इस नवीन संस्करणमें भगवान् श्रीकृष्णकी पौगण्ड अवस्था (बाल एवं किशोरावस्थाका सन्धिकाल) के रसमय चपल चरित्रका सरल वर्णन किया गया है। इसमें मोहनका अनोखा नृत्य, गोविन्दका गो-प्रेम, बन्दरोंको माखन लुटाना, फल बेचनेवालीपर कृपा आदि नौ लीलाओंपर अत्यन्त सरस तथा सुबोध भाषामें सुन्दर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक लीला-कथाके साथ सुन्दर आर्ट पेपरपर भगवान् श्रीकृष्णकी उस लीलासे संबन्धित आकर्षक चित्र भी दिये गये हैं।

मोहन (कोड नं० 871) परिवर्तित एवं परिवर्धित संस्करण

चित्रकथाके इस तीसरे भागमें भी कन्हैयाकी तरह ही क्रमशः एक पृष्ठपर भगवान् श्रीकृष्णकी चित्ताकर्षक लीला-कथा तथा उसके दाहिने पृष्ठपर उससे सम्बन्धित मनमोहक चित्र दिया गया है। इसमें ब्रह्माजीका मोह-भंग, कालिय नागपर कृपा, दावाग्नि-पान, गोवर्धन-पूजा, इन्द्र-कोप, रासलीला आदि कथाओंका इतना सजीव चित्रण है कि बार-बार पढ़नेपर भी पाठकका मन थकनेका नाम नहीं लेता है। इसके स्वाध्यायसे जहाँ बच्चोंको श्रीकृष्णकी मनोहर लीलाओंकी जानकारी प्राप्त होती है, वहाँ श्रीकृष्णके आदर्श जीवनसे शिक्षा प्राप्त कर उन्हें अपने जीवन-निर्माणमें भी काफी सहायता मिलती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—273005

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३
प्र०ति० २१-६-९९
LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

'देशकी सीमाओंको सुरक्षित रखना'—हमारा कर्तव्य

भारतीय संस्कृति प्राणिमात्रमें एक 'भगवान्' और 'आत्मा' मानती है, इसीलिये प्राणिमात्रका हित-चिन्तन उसका सहज स्वभाव है। सबमें परस्पर प्रेम रहे, सब सबका हित-साधन करें, कोई किसीसे द्वेष-वैर न करे; सब सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें—यह हमारा आदर्श है। इसीलिये हमारे ऋषि-महर्षियोंने—**'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥'** 'सब सुखी हों, सब तन-मनसे निरोग हों, सभीको कल्याणका साक्षात्कार हो और दुःखका भाग किसीको न मिले'। यह संदेश विश्वके सम्पूर्ण मनुष्योंको प्रदान किया। परंतु इस आदर्शका संरक्षण और पालन तभी सम्भव है, जबकि आसुरी शक्तियोंको पनपने नहीं दिया जाय, साथ ही यदि आसुरी शक्तियाँ सिर उठाती हैं तो कड़ाईसे उनका प्रतिरोध, प्रतिकार और दमन कर दिया जाय। लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या और राग-द्वेषके कारण जब कोई राष्ट्र, देश या उस देशके दुर्विचार रखनेवाले दुष्कृति-दुर्जन अपनी सीमाओंका अतिक्रमण कर दूसरोंकी सीमाओंमें घुसपैठका प्रयास करते हैं तथा चोरी-छिपे उन स्थानोंपर कब्जा जमाते हैं तो देशवासियोंका यह पुनीत कर्तव्य है कि वे आततायियोंको अपनी भूमिसे खदेड़ दें तथा अन्याय, पाप, दुष्टाचार, अनाचार-सम्पन्न आसुरी शक्तिको ध्वंश कर दें।

आततायीका प्रतिरोध-प्रतिकार न करना निश्चय ही पापको प्रोत्साहन तथा प्रश्रय देना है और एक प्रकारसे अहिंसाके मूलपर कुठाराघात करना है। अतः उसका प्रतिरोध-प्रतिकार ही नहीं, उसकी आसुरी वृत्तिका सर्वथा विनाश कर देना मानवमात्रके लिये ही नहीं, विश्वके समस्त प्राणियोंके लिये कल्याणकर है। वस्तुतः यही अहिंसा है और यही कर्तव्यका पालन है।

पिछले दिनों भारतके प्रधान मन्त्री श्रीअटलबिहारी बाजपेयीने पाकिस्तानसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनानेका प्रयत्न किया। इसीलिये लाहौरतक बसयात्रा भी किया। दोनों देशोंमें मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध भी बने। मैत्री सफल वही होती है, जो मन, कर्म, वचन तीनोंसे की जाय। पाकिस्तानने वार्ता तो मैत्रीपूर्ण की, किंतु इसका कार्यान्वयन इसके विपरीत शत्रुतापूर्ण हुआ। कुछ ही समयमें पाकिस्तानी सेना और उनके घुसपैठियोंने निर्धारित सीमाका अतिक्रमण कर कारगिल-क्षेत्रमें नियन्त्रण-रेखाके पार भारतकी भूमिपर कब्जा करनेका प्रयास किया तथा चोरी-छिपे कुछ चौकियाँ भी बना लीं। यह पाकिस्तानका एक षड्यन्त्र था। इसकी जानकारी होनेपर भारतने कठोरतासे इसका प्रतिकार करते हुए सीमापर सैनिक काररवाई की, स्थल-सेना और वायु-सेनाका सीमित प्रयोग कर पाकिस्तानी सेना तथा घुसपैठियोंको मारने और खदेड़नेका अभियान प्रारम्भ कर दिया गया। यह एक आवश्यक कदम था।

हम सभीका कल्याण चाहते हैं और सभीको सुखी देखना चाहते हैं, पर जैसे अपने ही शरीरमें कोई रोग होनेपर उसके नाशके लिये कड़वी दवा दी जाती है अथवा अपने ही शरीरके किसी अंगमें दूषित जहरीला फोड़ा हो जानेपर उसका ऑपरेशन किया जाता है, वैसे ही विराट् शरीरके किसी अंगमें फोड़ा हो जानेपर उसका भी ऑपरेशन होना आवश्यक है। इसी प्रकार आज विराट् शरीरके—पाकिस्तानियोंके तथा घुसपैठियोंके—जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करना आवश्यक हो गया है।

यह ऑपरेशन भी उनके कल्याणके लिये ही है। किसी द्वेष-भावसे नहीं, यह वैर नहीं है, एक प्रकारकी कल्याणकारिणी सेवा है—यद्यपि इसका स्वरूप कभी भीषण भी हो सकता है। परंतु इस प्रकरणमें भारतने पूर्ण संयम बरतनेका प्रयास किया है। नियन्त्रण-रेखाके इस पार केवल रक्षात्मक काररवाई की जा रही है, अपनी भूमिपर अनधिकार चेष्टा कर जो दुश्मन घुस गये, उन्हें मार भगाया जा रहा है। इस कार्यक्रममें भारतने जिस शौर्य, वीर्य, साहसका परिचय दिया है, वह सर्वथा सराहनीय है तथा हमारे तरुण सैनिकोंने महान् बलिदान करके जो देशका गौरव बढ़ाया है, वह पूर्णतया अभिनन्दनीय है। फिर भी मानव-विनाशसे बचनेके लिये युद्धको टालनेका प्रयत्न है। यही कारण है कि विश्वसमुदाय—संसारके सभी देशोंने पाकिस्तानकी भर्त्सना करते हुए भारतके संयमकी सराहना की है।

संसारमें शान्ति हो और सबका कल्याण हो—यह सभी चाहते हैं। पर यह तभी होगा, जब दुर्विचार रखनेवाले दुष्कृति-दुर्जनोंका बल नष्ट हो जायेगा और वे पाप-पराङ्मुख होकर पुण्यमयी सज्जनताको स्वीकार कर लेंगे। इसी दृष्टिसे पाकिस्तानके साथ भारतका संघर्ष हो रहा है। यह संघर्ष वैसे भारतपर थोपा गया है—सहज आसुरी भाव तथा आसुरी आकांक्षासे। विश्व-कल्याणके लिये इस आसुरभावका विनाश आवश्यक है। अतएव इस युद्ध-जैसे संघर्षमें प्रत्येक भारतवासीको भगवत्कृपाके आश्रयसे विजयमें विश्वास रखते हुए तन, मन, धनसे यथायोग्य सहयोग और सहानुभूति अवश्य प्रदान करनी चाहिये, साथ ही सारे मतभेदोंको भुलाकर मनमें साहस, धैर्य तथा उत्साह रखते हुए प्रत्येक त्यागके लिये तैयार रहना चाहिये।

भारतको विजयश्री प्राप्त हो तथा सम्पूर्ण विश्वमें चिरशान्ति हो, इसके लिये सर्वत्र भगवत्प्रार्थना, देवाराधन, यज्ञ, सामूहिक कीर्तन, भगवती दुर्गाके अनुष्ठान, रामायणके पारायण एवं भूतभावन भगवान् सदाशिव तथा भगवान् नारायणकी आराधनाके व्यक्तिगत तथा सामूहिक आयोजन किये जाने चाहिये।

—राधेश्याम खेमका